जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

हीरक-जयन्ती विशेषांक

भाग २३]

[किरण १

सम्पादक—

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन एम. ए., एल-एल. बी., पी-एच. डी.

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य एम. ए, पी-एच. डी.

देवकुमार जैन ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट

जैन सिद्धान्त-भवन, आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ६)　　　　विदेश में १०)　　　　इस प्रति का २॥)

वि० सं० २४९०

विषय-सूचीः—

प्रकाशकीय

श्री जैन-सिद्धान्त-भास्कर का प्रकाशन देवकुमार जैन ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट की ओर से सन् १९१२ में सेठ पद्मराज रानीवाला के सम्पादकत्व में आरम्भ हुआ। उस समय इस इन्स्टीच्यूट के वर्णी नेमिसागर जी सभापति तथा बाबू करोड़ीचन्दजी, मन्त्री एव कुमार देवेन्द्र प्रसाद सयुक्त मन्त्री थे। इन लोगों का अदम्य उत्साह और अथक सेवा भवन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों मे लिखी रहेगी। भास्कर जैसे खोजपूर्ण पत्र का चलाना एक कठिन कार्य है। इसके पाठकों की सख्या अँगुलियों पर गिनी जा सकती है। आर्थिक दृष्टि से इसके प्रकाशन का आधा भी खर्च ग्राहकों से नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त ऐसे शोधपूर्ण पत्र के लिये लेख समय पर एकत्रित करना भी सदा प्रकाशकों के लिए एक समस्या रही है। इन्हीं सब कारणों से मात्र एक वर्ष चल कर सन् १९१३ में यह पत्र बन्द हो गया।

हमारे पूज्य पिताजी (स्व० बाबू निर्मलकुमारजी) के मन्त्रि व काल में भास्कर और इस इन्स्टीच्यूट का स्वर्ण युग रहा। उसी समय सन् १९३५ में भास्कर का प्रकाशन प० के० भुजवली शास्त्री के सम्पादन मे फिर से आरम्भ किया गया। पडितजी ने। व।उनके सम्पादक मण्डल के सहयोगी गण सर्वश्री प्रो० हीरालाल जैन, प्रो० ए० एन० उपाध्ये और बाबू कामताप्रसाद जैन ने इसका सम्पादन लगातार १० वर्षों तक किया। तदुपरांत उन्हीं सहयोगियों के साथ डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने सन १९५५ तक इसका सम्पादन किया। तभी जमीन्दारी उन्मूलन कानून एव कागज नियन्त्रण आदि के कारण कई प्रकार की कठिनाइयाँ उठ खडी हुई और भास्कर पुन॰ अस्त हो गया।

अब भास्कर का फिर उदय हुआ है। बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीरगनाथ रामचन्द्र दिवाकर ने मुझे प्रोत्साहित किया था कि मैं बिहार प्रशासन के सहयोग से एक शोध प्रतिष्ठान की विधिवत् स्थापना करने के अपने प्रयत्न को जारी रखू। अब बिहार सरकार के वित्तीय विभाग के राज्यमत्री हमारे परम मित्र श्रीअम्बिकाशरण सिंह ने मुझे आश्वासन दे रखा है कि वे हमारे इस प्रयास में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देंगे। इस विषय पर हमारी जो बातें बिहार के शिक्षामंत्री श्रीसत्येन्द्रनारायण सिंह से हुई हैं एवं मगध विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० के० के० दत्ता ने हमे जो आशाएँ दे रखी हैं उससे ऐसा लगता है कि सब कुछ ठीक रहा तो इस प्रयास में सफलता मिलेगी। ऐसा विचार है कि इसी शोध प्रतिष्ठान के अन्तर्गत भास्कर का भी प्रकाशन हो। इस प्रकार भास्कर के प्रकाशन को किसी सुदूर भविष्य में भी बन्द होने की आशका नहीं होनी चाहिए।

भास्कर के अंक तो वैसे सभी बहुमूल्य हैं, परन्तु श्रीजैन सिद्धान्त भवन और श्री जैन सिद्धान्त भास्कर के स्वनामधन्य संस्थापक पूज्य दादा जी (स्व० बाबू देवकुमार जी) की पुण्य स्मृति में प्रकाशित श्रीदेवकुमार विशेषांक और अब हीरक जयन्ती विशेषांक हमारे लिए विशेष रूप से बहुमूल्य हैं। आज इसी विशेषांक को अपने पाठकों के सम्मुख रख कर हम अपने को कृतार्थ पाते हैं।

हमारी जैनसमाज के श्रीमानों से प्रार्थना है कि वे अपने संचित धन का सदुपयोग भास्कर की निःशुल्क प्रतियाँ देश-विदेश में विद्वानों तथा पुस्तकालयों तक पहुँचाने में करें। विद्वज्जनों से निवेदन है कि वे अपने बहुमूल्य लेखों से भास्कर को अधिक से अधिक उपयोगी बनायें। देश-विदेश के विद्वानों ने भास्कर के प्रकाशन को फिर से आरम्भ करने की जो प्रेरणा की है, उससे यह प्रमाणित है कि भास्कर की सेवाएँ बहुमूल्य मानी जाती हैं। हम पाठकों और विद्वद्वर्ग को यह आश्वासन देते हैं कि भास्कर का प्रकाशन अब विधिवत् चलता रहेगा।

अन्त में हम भास्कर के मुद्रक श्री देवेन्द्रकिशोर जैन को धन्यवाद देते हैं एवं अपने सभी लेखकों और सम्पादकों का आभार मानते हैं। बिना इनके सहयोग के भास्कर का समय पर प्रकाशन असम्भव है। मुझे विश्वास है कि इन लोगों का सहयोग हमें भविष्य में मिलता रहेगा।

सुबोधकुमार जैन

श्री जैन-सिद्धान्त-भास्कर
हीरक जयन्ती

राजर्षि स्व० देव कुमार जी
(संस्थापक श्री जैन-सिद्धान्त-भवन)

श्रीजिनाय नमः

हीरक जयन्ती विशेषाङ्क

भाग २३ } दिसम्बर, १९६३ । मार्गशीर्ष वीर नि० स० २४९० { किरण १

मेरे शोध और सम्पादन में

जैन सिद्धान्त भवन का योगदान ।

श्रीयुत प्रो० दरबारीलाल, कोठिया, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

यों तो जैन साहित्य के अनन्य अनुरागी और उदार हृदय बाबू देवकुमार जी आरा द्वारा संस्थापित "जैन सिद्धान्त भवन" की ख्याति, कीर्ति और उसके अनुपम कार्यों से अपनी विद्यार्थी-अवस्था से ही परिचित हो चुका था, क्योंकि जिस विद्या-संस्थान "स्याद्वाद-महाविद्यालय" काशी मे अध्ययन करता था, उसका विशाल और सुरम्य भवन उक्त बाबू जी और उनके पूर्वजों द्वारा ही दिया हुआ है, जो गङ्गा तट पर "प्रभुघाट" (अब जैनघाट) के नाम से ख्यात मनोज्ञ घाट पर अवस्थित है और जिसमें आज भी उक्त महाविद्यालय प्रतिष्ठित है। और इसीलिए परम्परया हम लोगों का बा० देवकुमार जी के यशस्वी कार्यों से परिचित होना स्वाभाविक था। "जैन सिद्धान्त भवन" उन्हीं लोकप्रिय कृतियों मे से एक महत्वपूर्ण अन्यतम कृति है। बाबू देवकुमार जी ने कितना और कैसा घोर परिश्रम एवं प्रयत्न करके कहाँ-कहाँ से प्राचीन अनमोल ग्रंथों को खोज कर या खुजवाकर उनकी पाण्डुलिपियाँ कराकर इन्हें भवन में एकत्रित की हैं। जो पाण्डुलिपि, सम्भव है, अन्यत्र शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध न हो वह यहाँ मिल जाय। शोधार्थी विद्वानों को "जैन सिद्धान्त-भवन" का यही सब से बड़ा आकर्षण रहा है।

अक्तूबर १९४४ में कलकत्ता मे वीरशासन-महोत्सव मनाया गया था। वह महोत्सव जैन इतिहास में अपूर्व था और सदा स्मरणीय रहेगा। इसका आयोजन वीर

सेवा मन्दिर, सरसावा[1] (सहारनपुर) की ओर से उसके अध्यक्ष बाबू छोटेलाल जी जैन, कलकत्ता के सफल प्रयत्नों से हुआ था। उस समय मैं उसी शोध-संस्थान में शोध एवं ग्रन्थ-सम्पादन का कार्य करता था और इसलिए मुझे भी उक्त महोत्सव में संस्था के साथ सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। वहाँ से वापिस होते समय वीरसेवामन्दिर के संस्थापक श्रद्धेय आचार्य पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार (अब मेरे धर्मपिताजी) के साथ एक दिनको आरा रुक गया था। जैसा कि मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ कि शोधार्थी विद्वानों के लिए जैन सिद्धान्त-भवन आकर्षण की वस्तु रहा है और इसलिए बहुत दिन से मेरी इच्छा इस सुप्रसिद्ध संस्थान जैन सिद्धान्त-भवन को निकट से देखने की बनी हुई थी। भवन के विशाल ग्रन्थ-भण्डार को देखते हुए मुझे उसमें अन्यत्र अलभ्य कई जैन न्याय-शास्त्र की अप्रकाशित रचनाएँ दृष्टिगोचर हुई। उनमें-से कुछ रचनाएँ मैं सम्पादन के लिए अपने साथ लेता आया। दो-तीन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ भी मैंने उसी समय कर ली थीं। पर उनमे से किसी के सम्पादन का अवसर इस समय अन्य प्रवृत्तियों मे सलग्न रहने के कारण मुझे न मिल सका। बाद को मैं जिन ग्रन्थोंका सम्पादन कर सका और भवन की जिन पाण्डुलिपियों का मैंने सम्पादन में उपयोग किया, उनका यहाँ कुछ परिचय तथा अन्य बातों पर प्रकाश डाला जाता है।

१. न्यायदीपिका की पाण्डुलिपि—"न्यायदीपिका" जैन न्याय की श्रेष्ठ कृतियों मे से एक कृति है। यह अत्यन्त विशद, प्रसाद गुणयुक्त और महत्वपूर्ण रचना है। इसे जैन न्याय की प्रथम कोटि की भी रचना कही जाय तो अनुपयुक्त न होगा; क्योंकि जैन न्याय के अभ्यासियों के लिए संस्कृत-भाषा मे निबद्ध सुबोध और सम्बद्ध न्याय-तत्त्व का सरलता से विशद् विवेचन करनेवाली प्रायः यह अकेली रचना है, जो पाठक के हृदय पर अपना सहज और अमिट प्रभाव अङ्कित करती है। ईसा की सत्रहवीं शताब्दि में हुए और "जैन तर्कभाषा" आदि प्रौढ़ दार्शनिक कृतियों के रचयिता उपाध्याय यशोविजय जैसे बहुश्रुत विद्वान् भी उसकी सरल विवेचनाशैली, सौष्ठव आदि गुणों से आकृष्ट हुए हैं और अपने दार्शनिक ग्रन्थ "जैन तर्क भाषा" में "न्यायदीपिका" के अनेक स्थलों को उन्होंने ज्यों-का-त्यों आनुपूर्वी के साथ अपना लिया है[2]।

---

१ यह संस्था अब दरियागंज, दिल्ली में आ गई है और स्वनिर्मित अपने विशाल भवन में स्थित है।
—लेखक

२ देखिए, जैन तर्क-भाषा पृ० १३,१४,१६,१७॥

वस्तुतः "न्याय-दीपिका" में जिस खूबी के साथ संक्षेप में प्रमाण और नय का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। और इसलिए यह संक्षिप्त कृति भी न्याय तत्त्व के जिज्ञासुओं के लिए बड़े महत्त्व एवं आकर्षण की वस्तु है। इसके रचयिता श्री अभिनव धर्मभूषण यति हैं, जो १५ वीं शताब्दि (ई० १३५८-१४१८) के एक यशस्वी भट्टारक विद्वान् हैं। इसका सम्पादन अप्रैल १९४५ में किया था और वीर-सेवामन्दिर से मई १९४५ में यह प्रकाशित हो चुकी है।

इसके शोध और सम्पादन में जहाँ दिल्ली आदि की प्रतियों का उपयोग हुआ था वहाँ जैन सिद्धान्त भवन की २२/२ नम्बर की प्रति से भी हमें बड़ी सहायता मिली थी। अनेक स्थलों पर इस प्रति मे बड़े महत्त्वपूर्ण पाठ उपलब्ध हुए थे, जिन्हें उक्त ग्रन्थ में उसके पाद-टिप्पणियों मे यथास्थान दे दिया गया है। इसमें २७॥ पत्र हैं। यह उल्लेख योग्य है कि इस प्रति और देहली प्रति मे ही वह महत्त्व का "मद्गुरोः" इत्यादि अन्तिम श्लोक भी पाया जाता है, जिसका वहाँ होना अत्यन्त आवश्यक है और जो अन्य दूसरी मुद्रित-अमुद्रित प्रतियों में नहीं मिलता। इस तरह भवन की इस प्रति से न्यायदीपिका के आधुनिक एवं नये ढंग से हुए सम्पादन में असामान्य सहायता मिली थी।

२. प्रमाणप्रमेयकलिका की पाण्डुलिपि—ऊपर यह निर्देश कर आया हूँ कि कलकत्ता-महोत्सव से लौटते समय आरा से कई पाण्डुलिपियाँ साथ ले आया था। "प्रमाणप्रमेय कलिका" की पाण्डुलिपि भी उन्हीं में से एक है। "प्रमाण प्रमेय कलिका" जैन न्याय की एक अल्प परिमाण वाली, किन्तु महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन न्याय के प्राथमिक अभ्यासियों एवं जिज्ञासुके लिये यह बहुत उपयोगी रचना है[1]। इसमें प्रमाण और प्रमेय इन दो तत्त्वों पर आलोचनात्मक शैली से संक्षेप में विशद, सरल और तर्कपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इसके कर्त्ता जैन तार्किक श्री नरेन्द्रसेन भट्टारक हैं, जो ईसा की अठारहवीं शताब्दि (ई० १७३०–१७३३) के विद्वान् हैं। इनके कार्यों से ज्ञात होता है कि ये यशस्वी, प्रभावशाली और शास्त्रार्थ-निपुण विद्वान् थे तथा सांस्कृतिक एवं शासन प्रभावी कार्यों में अग्रगण्य रहते थे।

"प्रमाणप्रमेयकलिका" की पाण्डुलिपि हमें आरम्भ में जैन सिद्धान्त-भवन से ही प्राप्त हुई थी और जिसने इस ग्रन्थ के सम्पादन की प्रेरणा दी थी। बाद को दिल्ली से

---

१ यह माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा सन् १९६१ में प्रकाशित हो चुकी है। —लेखक,

भी एक प्रति मिल गई थी, जो उक्त प्रति की मातृ-प्रति है—दिल्ली की प्रति पर से ही उसकी प्रतिलिपि की गई है। जैसा कि इसी प्रति के अन्तिम समाप्ति-पुष्पिका वाक्य[1] से प्रकट है। इससे यह भी विदित होता है कि भवन के संचालकों एवं व्यवस्थापकों की अलभ्य तथा दुर्लभ ग्रन्थों की बहुव्यय-साध्य पाण्डुलिपियाँ कराकर भवन में संगृहीत करने की प्रशंसनीय प्रवृत्ति रही है। इसमें पत्रसंख्या १० है। प्रत्येक पत्र में उसके प्रथम तथा द्वितीय पृष्ठ में १२, १२ पंक्तियाँ हैं। पर हर एक पंक्ति में अक्षर-संख्या सम नहीं है। किसी में ४८, ४९, ५०, किसी में ५१, ५२ और किसी में ५४ अक्षर हैं। लम्बाई १३॥ इंच तथा चौड़ाई ६॥ इंच है। प्रति पुष्ट और मजबूत है।

इन दो पाण्डुलिपियों के अतिरिक्त अजितसेनाचार्य की "न्यायमणि दीपिका", पण्डिताचार्य चारुकीर्ति नाम के एक ही या दो विद्वानों द्वारा रचित क्रमशः "अर्थप्रकाशिका" तथा "प्रमेयरत्नमालालङ्कार" इन तीन टीका-ग्रन्थों की भी पाण्डुलिपियाँ मैं भवन से सम्पादन के लिए ले आया था, पर उनका सम्पादन अन्यान्य कार्यों में रत रहने से अब तक नहीं कर सका। फिर भी इतना तो इन पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में कहा ही जा सकता है कि वे जैन सिद्धान्त भवन में ही उपलब्ध हैं। दूसरे शास्त्र भण्डारों में भी वे हैं या नहीं, इसका अभीतक पता नहीं चल सका।

ये सभी पाण्डुलिपियाँ मुझे भवन के तत्कालीन अध्यक्ष और वर्तमान में एच० डी० जैन कालेज आरा के संस्कृत-प्राकृत विभागाध्यक्ष डा० नेमिचन्द्र जी, एम० ए० (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी) पी० एच० डी०, ज्योतिषाचार्य के सौजन्य से प्राप्त हुई थीं। यहाँ मैं यह कहना न भूलूँगा कि आधुनिक सम्पादन तब तक पूर्ण और निर्दोष नहीं माना जा सकता जब तक ग्रन्थ का सम्पादन और संशोधन अनेक प्रतियों पर से न हो; क्योंकि विभिन्न प्रतियों में ऐसे-ऐसे महत्त्वपूर्ण पाठ मिलते हैं, जो लेखकों की कृपा से छूट जाते हैं और जिनके कारण ग्रन्थ का न हार्द स्पष्ट हो पाता है और न संगति ही बैठ पाती है। फलतः सम्पादकों को भारी बुद्धि-व्यायाम करना पड़ता है। किन्तु अनेक प्रतियों के आधार से सम्पादन करने पर प्राप्त हुए उन महत्त्वपूर्ण पाठों से असंगतियों और अशुद्धियों का परिमार्जन हो जाता है और ग्रन्थ का हार्द स्पष्ट हो जाता है। अतः आधुनिक

---

१ "उक्त प्रति नया मन्दिर धर्मपुरा, देहली से मंगवा कर श्री जैन सिद्धान्त-भवन आरा के लिए संग्रहार्थ श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्री की अध्यक्षता में यह प्रतिलिपि की गई। इति शुभमस्तु। शुभ मिति मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी २२, चन्द्रवार विक्रम संवत् १९९१, हस्ताक्षर रोशन लाल जैन।"—आरा प्रति पत्र १०॥

सम्पादनप्रणाली बड़े महत्व की है। इस दृष्टि से पाण्डुलिपियों का महत्व स्पष्ट जान पड़ता है।

इस प्रकार शोध और ग्रन्थ सम्पादन की दिशा में भवन ने मुझे पथ प्रदर्शन ही नहीं किया, अपितु प्रशंसनीय योगदान भी दिया है। मैं यह भी असन्दिग्ध शब्दों में कह सकता हूँ कि मेरी तरह अन्य कितने ही शोधार्थी साहित्यकारों, ग्रन्थ-सम्पादकों और लेखकों के लिए भी भवन ने मुक्त हस्त से अपनी बहुमूल्य पाण्डुलिपियों एवं प्रचुर शोध-सामग्री द्वारा सहायता प्रदान की तथा अब भी कर रहा है। आशा है यह दैदीप्यमान दीप चिरकाल तक अपने आलोक द्वारा नये-पुराने सभी लेखकों, सम्पादकों और शोधकों का पथ आलोकित करता हुआ प्रज्वलित रहेगा।

जैन सिद्धान्त-भवन आरा की दो काव्य पाण्डुलिपियाँ।

श्रीयुत प्रो० अमृतलाल शास्त्री, वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय, वाराणसी

(१) नेमिनिर्वाणम्—

नेमिनिर्वाणम् अहिच्छत्रनिवासी महाकवि वाग्भट्ट की अमर कृति है। यह महाकाव्य है। इसकी भाषा संस्कृत है। सर्गों की संख्या १५ है। श्लोक-संख्या क्रमशः ८३+६०+४७+६२+७२+५१+५५+८०+५७+४६+५८+७०+८५+४८+८७ = कुल ९९१ है। पत्र संख्या ५४ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई १० इंच और चौड़ाई ६ इंच है। दोनों ओर १ इंच ३ सैन्टीमेटर कागज छोड़ कर हॉसिया खिंचे हुए हैं। ऊपर ¾ इंच और नीचे १ इञ्च छोड़ कर बीच मे काली स्याही से श्लोक लिखे हुए है। श्लोकों के नम्बरों और हॉसियों तथा पुष्पिकावाक्यों मे लाल स्याही का उपयोग किया गया है। प्रत्येक पत्र मे ११ पंक्तियाँ लिखी हुई है। अक्षरों की संख्या सम नहीं है। किसी पंक्ति मे २६ अक्षर है तो किसी मे ३५ या ३६ भी। अक्षरों की बनावट गोल है। लिखावट प्रायः शुद्ध और सुन्दर है। कागज पुष्ट है और उसका रंग पीला है।

प्रारम्भिक अंश—

सिद्धेभ्यो नमः ॥ श्रीनाभिसूनोः पदपद्मयुग्मनखाः सुखानि प्रथयन्तु ते वः। समुन्नमन्नाकि शिरःकिरीटसंघट्टविश्रस्तमणीयित यैः ॥१॥ निःशेषविश्वेश्वरमाश्रयामि तं बुद्धिहेतोरजितं जिनेन्द्रम्। अवादि सर्व्वानुपघातवृत्त्या येनागमः सगमितस्थितार्थः ॥२॥

पुष्पिकावाक्य—

इति श्रीनेमिनिर्माणे महाकाव्ये महाकवि श्रीवाग्भट्टविरचिते पुत्र चिन्ताभिधानो नाम प्रथमसर्गः ॥१॥

इति श्री नेमिनिर्व्वाणे महाकाव्ये कवि श्रीवाग्भटविरचिते गर्भशोधनोनाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

अन्तिम अंश—

सर्व्वासु दिक्षु विरचय्य स धर्ममेवमेकातपत्रमवसादितमोहशत्रुं। विच्छिन्नकर्म्मनिगडः सह मुक्तिवध्वा भेजे सुखानि भगवान विनश्वराणि ॥८५॥ भिन्नो विन्ध्यनगेवणिग्वरगुणश्चेत्यादि केतुः सुरः चिंतायातिखगे महेन्द्रसुमना भूपो परादिर्जितः। सोऽव्यादच्युतनायको नरपतिः स्वादिप्रतिष्ठोप्यहमिंद्रो यश्च जयंतके सुरवरो नेमीश्वरः पातु वः ॥८६॥ अहिछत्रपुरोत्पन्न पाग्वाटकुलशालिनः। छाहडस्य सुतश्चक्रे प्रबंधं

वाग्भटः कविः ॥८७॥ इति श्री नेमिनिर्वाणे महाकाव्ये महाकवि श्री वाग्भट विरचिते नेमिनिर्वाणाभिधानो नाम पंचदशः सर्गः ॥१५॥ ग्रंथ संख्या सवत् १७२७ वर्षे पौषमासे कृष्णपक्षे अष्टमी ८ शुक्रवासरे।

विशेषता—

इस प्रति के अन्त मे जो "अहिछत्र पुरोत्पन्न " इत्यादि श्लोक लिखा हुआ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वाग्भट्ट नामके अनेक विद्वान् हुए हैं। प्रस्तुत वाग्भट उन सभी से भिन्न हैं, यह निश्चय इसी श्लोक से होता है। यह श्लोक देहली, जयपुर और नागौर की प्रतियों मे भी पाया जाता है। प्रस्तुत श्लोक निर्णयसागर से मुद्रित प्रति मे नहीं है।

प्रस्तुत पाण्डुलिपि के हाँसियों में तथा ऊपर और नीचे जो खाली स्थान था, उसमें महत्त्वपूर्ण टिप्पण लिखे हुए है, जो जिज्ञासुओं के लिए बड़े काम के है।

(२) नेमिनिर्वाण पञ्जिका—

नेमिनिर्वाण-पञ्जिका के रचयिता भट्टारक ज्ञानभूषण हैं। पञ्जिका मे नेमिनिर्वाण महाकाव्यम् के विषम स्थलों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। पत्र संख्या ४७ है। पत्र का लम्बाई १२॥ इञ्च और चौड़ाई ६॥ इञ्च है। दोनों ओर १। इञ्च के हाँसिया लाल स्याही से खिंचे हुए हैं, तथा ऊपर और नीचे की ओर भी ३/४ इञ्च स्थान छोड कर बीच म काली स्याही से सुन्दर और स्पष्ट अक्षरों मे पञ्जिका लिखी हुई है। कागज पुष्ट है। रंग सफेद है। पुष्पिका वाक्यों मे प्रायः लाल स्याही का उपयोग किया गया है।

आदिभाग—

॥६०॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ धृत्वा नेमीश्वरं चित्ते लब्धानन्तचतुष्टयं ॥ कुर्वेहं नेमिनिर्वाणमहाकाव्यस्य पञ्जिकां ॥१॥ श्रीनाभिसुनोः श्रीयुगादिदेवस्य प्रथयतु विस्तारयंतु। समं युगपत्। विस्तृताः। अधः पतिताः। मणीयितं। मणिभिरिवाचरितं। यैः पद पद्मयुग्मनखैः ॥१॥

पुष्पिका वाक्य—

इति भट्टारक श्रीज्ञानभूषण विरचितायां श्रीनेमिनिर्वाण महाकाव्यपंजिकायां प्रथमसर्गः ॥१॥

इति श्रीभट्टारक श्रीज्ञानभूषणविरचितायां श्रीनेमिनिर्वाण महाकाव्यपंजिकायां द्वितीयः सर्गः।

अन्तिम भाग—

विरचय्य रचयित्वा अवसादितमोहशत्रुं निरस्तमोहरिपुं ॥८२॥ इति भट्टारक श्रीज्ञानभूषणविरचितायां श्रीनेमिनिर्वाणमहाकाव्यपंजिकायां पंचदशमः सर्गः समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥ श्रीरस्तु ॥

यह ग्रंथ श्रीयुत् स्व० बाबू देवकुमार जी जैनाग्रवाल आरा निवासी द्वारा संस्थापित श्रीजैन सिद्धान्त-भवन आरा में संग्रह करने को श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री की अध्यक्षता में लिखा गया। इसकी मूल प्रति देहली के जैनमन्दिर से श्रीयुत् बाबू पन्नालाल जी जैनाग्रवाल के द्वारा प्राप्त हुई थी। उसी से यह प्रतिलिपि तैयार की गई है।

विशेषता—

प्रस्तुत पञ्जिका के देखने से यद्यपि भट्टारक ज्ञानभूषण के विशिष्ट ज्ञान का परिचय नहीं मिलता, फिर भी कहीं-कहीं यमक आदि के गूढ़ स्थलों को खोलने से इसके महत्त्व को स्वीकार किये बिना नहीं रहा जा सकता।

नेमिनिर्वाणमहाकाव्य के सप्तम् सर्ग में रैवतक, जिसे आज गिरनार पर्वत कहते हैं, का वर्णन किया गया है। इसमें आर्या, शशिवदना, बन्धूक, विद्युन्माला, शिखरिणी, प्रमाणिका और मत्यद्भूक्र आदि चालीस से अधिक छन्दों का प्रयोग किया गया है। जिस श्लोक में जिस छन्द का प्रयोग किया गया है, उसका नाम भी दे दिया गया है, उसका अर्थ भी पर्वत के पक्ष में लग जाता है, यह एक आश्चर्य-जनक बात है। जैसे—

> मुनिगणसेव्या गुरुणा युक्तार्या जयति सामुत्र।
> चरणगतमखिलमेव स्फुरतितरां लक्षणं यस्याः ॥ (७२)

इस श्लोक की पञ्जिका देखिये—

मुनिगणसेव्या मुनिगणो भदन्तसमूहः सेव्यो लक्षणया पूज्यो नमस्करणीयो वा यस्याः सा तथोक्ताः, पक्षे सप्तगणसेव्या। गुरुणा गुरुर्दीक्षागुरुः शिक्षागुरुर्वा तेन, पक्षे एकेन दीर्घाक्षरेण। आर्या आर्यिका, पक्षे आर्या नाम छन्दः। अमुत्र अत्र रैवतकाचले, पक्षे अस्मिन् सर्गे। चरणगतं चारित्राश्रितम्, पक्षे पादाश्रितम्। यस्याः आर्यिकायाः, पक्षे आर्यायाः ॥ (७२)

प्रस्तुत श्लोक में दो अर्थ हैं—एक आर्यिका के पक्ष में लगता है और दूसरा आर्या छन्द के पक्ष में। भट्टारक ज्ञानभूषण ने उक्त पञ्जिका में दोनों अर्थ थोड़े ही शब्दों में स्पष्ट कर दिये हैं। भट्टारकजी ने आदि से अन्त तक इसी शैली का निर्वाह किया है।

इस पञ्जिका का प्रकाशन यथाशीघ्र भारतीय ज्ञानपीठ काशी से होने जा रहा है। इति।

श्री जैन सिद्धान्त भवन में गोष्ठियों के कितने कमल हमने पाए।

श्रीयुत डा० रमेश कुंतल "मेघ" M A Ph D चंडीगढ़ विश्वविद्यालय

आरा शहर एक बिजली की आकस्मिक चमक की तरह मेरे जीवन और मेरी सांस्कृतिक चेतना के सुदूर नीले आकाश में रह-रह कर कौधा था, जब मैं सदलमिश्र भारतेन्दु, शिवनन्दन सहाय के व्यक्तित्वों का प्रत्याह्वान किया करता था। और संयोग तो यह हुआ कि मैं, आखिर आ ही गया आरा मे सन् ५७ की फक साँझ को! गदर के सौ साल गुजर चुके थे, सदल मिश्र को विदा हुए एक शताब्दि से भी अधिक हो गया था, और बाणभट्ट को महिनी की याद कोई आठ सौ साल पहिले कन्नौज खींच लाई थी, किन्तु मैं ठहरा अहमक! पहुँचा सन् सत्तावन मे! पुनः एक बिजली मुझ पर कौधी और मैं आरा के रंग मे रंग ही गया—पक्के गाढ़े रंग में। वे ऊँचे-ऊँचे ताड़ के कुंज मुझे शाहाबाद की ऊँचाइयाँ बताने लगे, वे महमह धानों के सराबोर लंबे मैदान मुझे भोजपुरी लोकजनचित्त की दिली गहराइयों में डुबाने लगे और और शांतिनाथ के मन्दिर और उसके पार्श्व मे वैशाली-चंपा की वास्तुकला और राजशेखर की कवि गोष्ठी की याद दिलाने वाला "श्री जैन सिद्धान्त-भवन" मुझे कई नये पाठ सिखाने के लिए अपनी विचित्र वीणा के तार झंकारने लगा। श्रीराजशेखर और बाणभट्ट गए थे कन्नौज—ःवहीं के हो गए। मैं कन्नौजी आया आरा, और आरा में सब अंग मे बूड़ कर हृदय दे बैठा आरा को।

आज मैं आरा से सैकड़ों मील दूर चंडीगढ़ में हूँ! मेरे निकट ही नांगड़ा का वह प्रदेश है जहाँ हिमालय की गोद में दुलराई नवेली-छबीली चित्रकला की कूचियाँ घुन गई है, मेरे निकट ही दिल्ली है जो एक ऐसा रेशमी नगर तथा इतिहास-खण्डहर है जहाँ खानखाना (रहीम) के मकबरे से थोड़ी दूर ही लालकिला है जहाँ सम्राट जफ़र के बाद मुगल-दर्बारों के शायरों की शम्माएँ सरापा, कला का स्यापा कर रही हैं। और आजकल तो लॉ कर्बूजिएर द्वारा स्वप्रकल्पित फ्रेंच-वास्तुकला के आदर्श और पंडित जवाहरलाल नेहरू के लाड़ले इस शहर के पूर्वोत्तर में जो शैलमालाएँ हैं वे बर्फ से ढँक गई है क्योंकि आजकल जनवरी के पहले हफ्ते में शिमला बर्फ के ओवरकोट पहिने अचेतन सोया है। वे शैलों के उजले कलहँस और वे.. .. आरा के ताड़ों के श्यामल डैने ......किस प्रकार सूर्य और वायु की उँगलियाँ पकड़ते हैं! कितना बड़ा

पुल है चंडीगढ़ और आरा के बीच—संस्कृति और मानव की अमर साहचर्यवृत्ति का !! यह पुल भाकड़ा-नांगल और दामोदर से भी मजबूत तथा विराट है ! इसी पुल पर खड़े-खड़े मैं संस्कृति की गंगा का प्रवाह देखा करता हूँ; देखता हूँ रिनैसाँ के वे मेले जो, उन्नीसवीं शती में शुरू हुए थे जिनकी गूँज पटना, आरा, वाराणसी, प्रयाग, कानपुर और आगरा तक फैली थीं। एक साथ ही आरा और मीरजापुर दो मध्यांतर लगे मुझे—ऐसे मध्यांतर, जो एक ओर तो प्रयाग, कानपुर, आगरा तथा वाराणसी, पटना को समेटते हैं, तथा दूसरी ओर आगरा से पटना तक की एक मजबूत शृङ्खला बनाते हैं। इसीलिए "ऊजड़ ग्राम" कार से लगाकर "सज्जाद-सुम्बुल" कार का संगम मीरजापुर और आरा में ही हुआ !

और हमारे आरा का सांस्कृतिक हृदय कहाँ है ? उसकी धक्धक् कैसी है ? उसकी व्यापकता और गहराई कितनी है ? उसके कलाकार, वक्ता, राजनीतिज्ञ, अध्यापक, विद्यार्थी, किरानी, ग्रामीण, आभिजात्य जन कैसे हैं ? — मुझे इन सभी प्रश्नों का एक उत्तर मिला: आरा का दिल है "श्री जैन सिद्धान्त-भवन" ! आरा की सांस्कृतिक समृद्धि और जन चेतना का अंगुलमान है "श्री जैन सिद्धांत भवन" !!

एक शाम वर्षान्त के बादल हट रहे थे; शरद का नीलाकाश और ताड़ों के पंखों के बीच से झाँकता हुआ पंचमी का चन्द्रमा शिवगंज चौराहे के पीपल वृक्ष से लेकर "सिद्धांत-भवन" की सरस्वती की धवल प्रतिमा तक चमक उठी थी तभी मेरे द्वार पर तीन दस्तकें हुईं—होनहार कलामनीषी चंद्रभूषण तिवारी की, उदीयमान कवि श्रीराम तिवारी और सुरेन्द्रचार्य की एवं हास्य व्यंग कथाकार मधुकर सिंह की। "आया !"—द्वार खुला। "डा० साहेब, हम लोग 'कलामंडल' को पुनरुज्जीवित करना चाहते है।" "मेरा हाथ आपके हाथ में ! लेकिन शर्त है : मुझे आइंदा 'कुंतल मेघ' कहें। सारी लखनवी औपचारिकता बलाये-ताक रख दें !"

वायदे पक्के : मंजूरी हुई ! ये हाथ मजबूत होते गये, और ये हाथ ही मुझे श्री "जैन सिद्धांत-भवन" तक लाए। इन हाथों ने फैल कर सारे शाहाबाद के वरिष्ठ हाथों, नन्हें हाथों, प्यारे हाथों, ग्रामीण हाथों, कवि हाथों, विद्वान् हाथों की एक ऐसी मजबूत कड़ी बनाई जो सारे नगर और नगर-वासियों के दिल-दिमागों का कंठहार हुई। मेरे लिये "कलामंडल" और 'कलामंडल' का केन्द्र श्री "जैन सिद्धांत-भवन" समानधर्मा रहे; और आज भी, अनेक तब्दीलियों के बाद—मैं दोनों की पृथक कल्पना से काँप जाता हूँ ; लगता है कि उन्नत ललाट और रोली के टीके का रिश्ता है इनका; हम आरा वासी तो अपने इस सांस्कृतिक ललाट के कर्त्ता और धर्त्ता हैं ! चिरंतन

जिज्ञासा और अछूती मौलिकता वाले चन्द्रभूषण, भोले व्यक्तित्व और अतिशय शील से दबे झुके श्रीराम, समाज की शठता से जूझ कर उसे ठेंगा दिखाने वाले मधुकर सिंह और शायर-सिंह-सपूत की तरह अपनी लीक पर एकतारा बजाने वाले सुरेन्द्राचार्य और अन्ततः आशुतोष—आशुरुष—नगर की सांस्कृतिक धरोहर के स्पष्टवादी रक्षक विद्वान् श्री नेमिचंद्र शास्त्री से मैं पहले मिला और भवन की सीढ़ियों तथा कक्ष में बैठ कर न जाने कितनी बार प्रणाम नमस्कार भूमिकाओं के बाद मित्रता, ज्ञान, सृजन सांस्कृतिक-जीवन के मोती चुन-चुन लाया !

जो भीड़ों से डरें—वे हैं भकुए निखट्टू, निठल्ले ! मैं तो भीड़ों की आपाधापी के बीच का इंसान होना पसंद करता हूँ। महाराजा कौलेज से पढ़ाकर निकला तो प्रोफेसरी का नकाब वहीं छोड़ आया दूसरे दिन पहनने की खातिर, जब घर से बाहर निकला तो सारी मध्यमवर्गीय नकूशाही को फेंक आया—बिल्कुल "शोल्जर कट" मुद्रा में, तो 'सिद्धात भवन" में जो गोष्ठियाँ हुई —अधिकांशतः कलामंदिर द्वारा संयोजित

उनकी भीड़-भाड़, हलचल, कलाकारों के कुर्त्तों-धोतियों की फहरानें, प्रोफेसरों के कोटों-पतलूनों की तहों की पाल्थीनुमा शक्लें,' छात्रों की तालियों की गड़गड़ाहट, बैल-गाड़ियों से गुजरती जनता को सम्मिलित होने का खुला निमंत्रण राजशेखर की सभा-मडप वाली गोष्ठियों को भी फीका कर देता था ! धक्के मारमार कर लोग अंदर जमे रहते थे घटों ढाई-ढाई, चार-चार घटों तक ! सूचीभेद्य प्रशांति मे अपने लबे कुचीपाडी दुपट्टे को फहराते हुए श्रीरामेश्वरनाथ तिवारी तुलसी के गरल-अमृतपायी शिव का नीर-क्षीर मिश्रण कर रहे हैं प्रसाद-प्रेमचन्द के सस्मरणों को सुनाते-सुनाते न अघाने वाले 'भोजपुरी' जी शाहाबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दावतों के लिये जुटे हैं । शाहाबाद के एक-एक पत्थर, एक-एक मूर्त्ति एक-एक गली और संस्कृति के एक-एक कमल की गध का जानने वाले पण्डित कमलाकांत उपाध्याय बाहर अतिथि विद्वानों के सामने हमारी नाक ऊँची कर रहे हैं श्रीकपिलदेव पांडे अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण से संक्षिप्तता के दाँत खट्टे कर रहे हैं श्री कुमार विमल सिंह अपनी ओजस्वी शैली, गंभीर अध्ययन और अद्भुत स्मरणशक्ति के पावक रस से ज्ञानपिपासा को छका रहे हैं श्रीपूर्णमासी राय पूर्णिमा के चन्द्र की तरह राधा की मधुरोपासना के गूढ रहस्यों को यू खोलते जा रहे हैं श्री नेमिचंद्र शास्त्री विशाल सांस्कृतिकज्ञान और मधुर आतिथ्य से "सिद्धान्त भवन" के विवाद स्तरों को बरकरार रख रहे हैं .. ये चित्र बार-बार मेरे सामने आए हैं इन चित्रों और इन गोष्ठियों के योग-दान का महत्त्व तो यह है कि पटना, मुजफ्फरपुर, काशी. शांतिनिकेतन . दिल्ली तक

के विद्वान दाँतों तले उँगली दबाकर हमारे शहर की विशाल सांस्कृतिक परंपरा, बुद्धिजीवियों के उच्चस्तर, श्रोताओं की श्रेष्ठपात्रता और भोजपुरी-जनपद की महानता की जो छाप लेकर जाते थे वह अद्वितीय और विशिष्ट होती थी। सिद्धांत-भवन में सिद्ध कहानीकार श्री जैनेन्द्रकुमार का जो स्वागत हुआ और तदुपरांत पढ़ी गई कहानियों का जो स्तर रहा—वह बड़े-बड़े शहरों के बस और मजाल की बात नहीं है! हमारे अतिथि जब यहीं के जन-हृदय और बुद्धिजीवियों की एकता तथा उच्चस्तर से परिचित होकर जाते थे तो उसके मूल में "सिद्धांत भवन" का सांस्कृतिक वातावरण, जनता द्वारा अंगीकार और वरिष्ठ महानुभावों का निर्देश ही रहा है। 'सिद्धान्त भवन' एक ऐसी धुरी रहा जिसने अनेक कलाकारों की कलमों को सँवारा, अनेक वक्ताओं की वाणी मे अर्थगाम्भीर्य की चिंता भरी, अनेक श्रोताओं को महत्त्वाकांक्षी बनाया भिन्न-भिन्न पेशों मे जुटे हुए राजनीतिज्ञों, वकीलों, वैज्ञानिकों, वैद्यों आदि को एक समान रंगमच प्रस्तुत किया, और विशाल ज्ञान-राशि को सारे के सारे जनपद मे प्रसारित किया। गोष्ठियों की शोभा विद्वान की विद्वत्ता एव श्रोताओं की सख्या तथा स्तर दोनों पर आश्रित है। इस बात को सार्थक किया "जैन सिद्धांत-भवन" की गोष्ठियों ने जिनका संयोजन "कलामडल" द्वारा हुआ!

सँभाल कर अदर आइए ये फूल, ये मालाये ये अगरुदीप की महमहाती गंध और बिगन द्वारा करीने से लगाई गई दरियाँ तथा चादरे आपके ही लिए है कोई बधन नहीं! आप चार्वाकी हों चाहे शांकर, अध्यापक हों, चाहे विद्यार्थी, लेखक हों चाहे टाइपिस्ट, अफसर हों, चाहे राजनीतिज्ञ यहाँ बेशक आएँ! द्वारपर आते ही लपक कर चद्रभूषण तिवारी या श्रीराम आपको प्रणाम करते हुए किसी न किसी गोष्ठी या सांस्कृतिक सभा मे बैठाएँगे। अदर आरा के नवयुवक कलाकारों का एक समूह आपको उद्विग्न मिलेगा जैसे चट्टान को फोड़कर अनत कोमल निर्झर फूटने वाले हैं! कभी-कभी आप का मुँह मीठा होगा तो कभी-कभी आप वर्षा मे भींग जाएँगे लेकिन 'कलामडल' की किसी गोष्ठी को छोड़ना नहीं चाहेंगे। कोई भी गोष्ठी ले. और मुझे तो इनमें से एक भी गोष्ठी नहीं भूलती श्रोताओं दर्शकों की पक्ति भी मामूली नहीं है—छक्के छूट जाएँगे देखिये कवियों मे श्री रवींद्र, हफीज बनारसी, श्रीराम तिवारी, चित्तरजन, अनीस इमाम, उमाशंकर पांडेय, सुरेन्द्राचार्य, 'संकेत', 'भानु', प्रणयी, एम० कांत सिन्हा 'कांत' की टोली है। पढ़क्कुओं में श्री नेमिचद्र शास्त्री, जगदीश पांडेय, चद्रभूषण तिवारी, रामेश्वरनाथ तिवारी, कुमार विमल, कपिलदेव पांडेय, पूर्णमासी राय, जितराम पाठक, कमलाकांत उपाध्याय, रमेश कुंतल 'मेघ",

वासंती बाबू, हक साहब आदि बैठे हैं। लेखकों में श्री बनारसी प्रसाद भोजपुरी, 'प्रवासी', 'प्रीतम', सुबोध बाबू, 'स्वर्णकिरण', रा० ना० सि०, कुमार बिमल आदि मौजूद हैं—। पारखियों में श्री एस० आर० एस० शास्त्री, देवेंद्र बाबू, के० आर० चारी, महेंद्र प्रसाद साही, अनेक वकील, वैद्य, राजनीतिज्ञ, अध्यापक गण, श्री रामचंद्र ईश्वर, राधारमण, श्याममोहन अस्थाना, शुकदेव सिंह, गोपाल जी, विनयशंकर सिंह, वरिष्ठ अध्यापक, श्रीराजेन्द्र सिंह आपके सामने ही हैं। इस प्रकार यह गोष्ठी राजशेखर के युग की गोष्ठियों से कम नहीं होती थी—रूप बदल गया था—एक राजसभा में होती थी : दूसरी—जन-हृदयों में !!

कितनी गोष्ठियाँ गिनूँ-गिनाऊँ ! सिद्धांत-भवन की ये सभी गोष्ठियाँ ऐतिहासिक रहीं। काश ! इन्हें लिपिबद्ध करके सर्वदा के लिए सुरक्षित रख सकता ! तीस वर्षों में आरा में हर ऋतु का स्वागत करने के लिए जन हृदय मंगल उत्सव मनाता रहा और हम भी उसके ही अंश बने सांस्कृतिक-पर्वों में मशगूल रहे ! "नामवर सिंह व्याख्यानमाला" कोई एक हफ्ते चली; 'तुलसीदास-जयंती समारोह' कोई पाँच दिन चला। इनमें से प्रत्येक दिन हमलोग नित नवीन, और कलासौंदर्य की असंख्य मणियाँ बटोर कर लाते रहे। "कहानी गोष्ठी" हुई काश्यपजी की अध्यक्षता में, "नई कविता गोष्ठी" हुई श्री केदारनाथ मिश्र "प्रभात" की अध्यक्षता में, "सौंदर्य"—गोष्ठी हुई आचार्य नलिनविलोचन शर्मा की अध्यक्षता में, "डा० जिवागो और समाजवादी यथार्थवाद" पर गोष्ठी हुई श्री अली असरफ की अध्यक्षता में। महावीर जयंती मनाई गई; रवींद्र जयंती मनाई गई; प्रेमचन्द्र जयंती मनाई गई; और इन जयंतियों में हमने अपने ज्ञान की तहों में पुनः-पुनः सृजन की अनूठी पदचापें सुनीं। सिद्धांत भवन में कौन नहीं आया—जो आरा आया हो ? यहाँ डॉ० हीरालाल आए, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आए; आचार्य नंददुलारे वाजपेयी आए; डा० रामखेलावन पांडेय आए; कवि रामदयाल पांडेय आए, श्री रामपूजन तिवारी आए, श्री जैनेन्द्रकुमार आए, आचार्य नलिनविलोचन शर्मा आए ! यही नहीं : हम शुक्रिया अदा करें भवन-रक्षक बिगन की जो हमेशा पाक्षिक गोष्ठियों को भी वही शालीनता और कक्ष-सज्जा से ओत-प्रोत कर देते थे। हम सलाम करें श्री डा० नेमिचंद्र शास्त्री, श्रीरामेश्वरनाथ तिवारी और कलामंडल के चंद्रभूषण, श्रीराम, सुरेन्द्राचार्य-मधुकर को—जिन्होंने मानों एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण ही शुरू कर दिया। इन गोष्ठियों में कितनी विदुषियाँ भी आईं—श्रीमती सावित्री अस्थाना, ललिता सिन्हा, शरबती बाई, श्रीप्रभा, माधुरी सिन्हा, सरला सिन्हा, पुष्पिता कपूर आदि ने इन गोष्ठियों की श्रेष्ठता में चार चाँद लगाए !

मैं तो इतनी दूर हूँ किन्तु अभी भी वे संगमरमर की सीढ़ियाँ असंख्य परिचित पदचापों से मर्मर कर उठती हैं, अभी भी उन चमकीले पालिश वाले रंगों पर चित्रटोली के पटना शैली वाले चितेरों की कूचियाँ जगमग-जगमग हो उठती हैं। अभी भी भवन की घड़ी मुझे काल की लघुता और कला की अनंतता का सूत्र बताती है, अभी भी उन छज्जो पर पुराने ग्रंथों के पन्ने "सिद्धांत भवन" की महानता और उदारता का संदेश दे उठते हैं और अभी भी-इतनी दूर होने पर भी-"सिद्धांत भवन" में किसी भी अनजानी अविनाशी गोष्ठी के मौके पर—मैं वहाँ उसी पुल पर चल कर आ उपस्थित हो जाता हूँ जो हमारे दिलों के बीच बना है, जिसके नीचे संस्कृति की गंगा प्रवाहित हो रही है। जहाँ पर हमने असंख्य हाथों की रेखाएँ पढ़ी हैं, हजारों हाथों की उँगलियाँ पकड़ी हैं, प्रणाम किया है। टन्-टन् सुन रहा हूँ संगमरमर की सीढ़ियों पर खड़ा हूँ और आपको प्रणाम कर रहा हूँ !!

जैन सिद्धान्त भवन की चिरस्मरणीय सेवाएँ

श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, इन चारों के समूह का नाम 'जैन संघ' है। इनकी धर्म साधना के निमित्त कारण जैन-मंदिर, मूर्त्ति और ज्ञान के प्रधान साधन आगमादि शास्त्र हैं। मध्य काल मे जैन सघ की उन्नति और धर्म में स्थिरीकरण, जैन-मंदिरों और जैन-ज्ञान भंडारों के द्वारा बहुत अधिक हुआ है। जैन मन्दिरों एव मूर्त्तियों के निर्माण एवं पूजनादि व्यवस्था मे अरबों रुपये जैन श्रावक, श्राविकाओं ने खर्च किये और वे तीर्थ व मन्दिर प्रधान भक्ति-केन्द्र बन गये। वास्तव में देखा जाय तो इतना ही महत्त्व जैन शास्त्रों व ज्ञान-भडारों का है, क्योंकि तीर्थङ्करों एवं आचार्यों की वाणी इनमे सुरक्षित है। ज्ञान के बिना सारा क्रिया-काण्ड इच्छित फलदाता नहीं हो सकता। देव, गुरु और धर्म का स्वरूप भी शास्त्रों द्वारा ही जाना जाता है और सम्यक्-दर्शन की प्राप्ति के लिये सच्चे देव, गुरू, धर्म की श्रद्धा होना अत्यावश्यक है। जिस प्रकार जैन-मूर्त्ति के द्वारा हमे तीर्थङ्करो के गुण स्मरण होते हैं और उनकी सौम्य-आकृति का दर्शन शांति प्रदान करता है, उसी तरह तीर्थङ्करों की वाणी हमारे जीवन मे पथ-प्रदर्शक और सत् प्रेरणादायक है। कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान उसी के द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए जिनवाणी का बड़ा भारी महत्व है। खेद है कि जैन तीर्थों, मदिर व मूर्तियों की ओर हमारा जितना ध्यान रहा, शास्त्र-भण्डारों की सुव्यवस्था व स्वाध्याय की ओर नहीं रहा।

प्राचीन काल मे लोगों की स्मृति बहुत तेज तथा बुद्धि भी अत्यन्त प्रखर थी इसलिए तीर्थङ्करों की महान और विशाल वाणी का कई शताब्दियों तक मौखिक रूप से पठन-पाठन होता रहा। जब स्मृति काफी कमजोर हो गई तो जो कुछ भी स्मरण है वह भी विस्मृत न हो जाय, इसलिए जिन-वाणी को लिखित रूप दिया गया। खेद है कि जिन ताड़पत्रों पर वे शास्त्र लिखे गये, वे अधिक टिकाऊ साबित नहीं हुए और थोड़े समय में ही बहुत से ग्रंथ नष्ट हो गये। इसीका परिणाम है कि आज ९ वीं १० वीं शताब्दि के पहले की कोई भी ताड़पत्रीय प्रति किसी भी जैन-भडार में प्राप्त नहीं है। अच्छा हुआ कि बहुत से ग्रन्थों की प्रतिलिपियां होती गईं। हजारों प्रतियाँ मुनियों ने स्वयं तो लिखी ही पर श्रावक श्राविकाओं को आदेश देकर हजारों प्रतियां लहियों से लिख-वाई जाती रहीं। फलतः भारत के कोने-कोने में छोटे-बड़े सैकड़ों जैन ज्ञानभंडार हैं

और उनमें कई लाख हस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं। हमारे ज्ञान-भंडारों में अभी जितनी प्रतियाँ प्राप्त हैं, उनकी अपेक्षा कई गुनी नष्ट हो चुकी हैं। जैन ज्ञान-भंडारों में केवल जैन ग्रंथ ही नहीं हैं अपितु जैनेतर सभी विषयों और बहुत सी भाषाओं के महत्व-पूर्ण ग्रन्थ "जैन भंडारों" में संग्रहीत हैं।

परिवर्तन प्रकृति का धर्म है और आवश्यकता आविष्कार की जननी है। इस नियम के अनुसार हमारे प्राचीन ज्ञान भंडार बहुत से अस्त-व्यस्त और नष्ट हो गए तो नये-नये ग्रंथालय स्थापित किये जाते रहे और आज भी वह क्रम चालू है। इन नये ग्रंथ-भंडारों में प्राचीन प्रतियों के संग्रह के साथ-साथ नई प्रतियाँ भी लिखवाकर रखी गईं। ऐसे जैन ग्रंथालयों में आरा का "जैन सिद्धान्त भवन" विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। इसकी स्थापना आज से ५० वर्ष पूर्व स्व० बाबू देवकुमार जी ने श्रुत-पञ्चमी को की थी। इसमें हजारों हस्तलिखित प्रतियाँ और हजारों ही छपे हुए ग्रंथ और बहुत सी कला-पूर्ण सामग्री सुरक्षित है। जिसका मुझे सर्वप्रथम परिचय सन् १९१९ और १९३३ में प्रकाशित जैन सिद्धान्त भवन के दो सूचीग्रन्थों आदि से मिला। मुद्रित प्रथम सूचीपत्र में कन्नडलिपि में ताड़पत्र और कागज पर लिखे हुए १ हजार से अधिक प्रतियों का विवरण है। उसके बाद नागरीलिपि में लिखी हुई प्रतियाँ और अन्त में मुद्रित ग्रंथों की सूची प्रकाशित हुई है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, उत्तर भारत में कन्नडलिपि की इतनी अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ अन्य किसी भी जैन ग्रन्थालय में नहीं होंगी। प्रकाशित सूची के बाद और भी संग्रह बढ़ता गया और अब उन कन्नडलिपि की प्रतियों की संख्या १७०० के करीब जा पहुँची है। कागज पर लिखी हुई प्रतियाँ भी काफी हैं और मुद्रित ग्रंथों का भी तो महत्त्वपूर्ण संग्रह है ही। बहुत वर्षों से भवन का यह विशिष्ट ग्रंथालय देखने की इच्छा थी, जो सन .. .... में पूरी हुई। मुझे यह देख कर बड़ी ही प्रसन्नता हुई कि ऐसा ही तो विशाल और सुन्दर भवन है और ऐसाही महत्त्वपूर्ण संग्रह है। यहाँ संग्रहीत श्वेताम्बर कवि केसराज के "रामजसो रसायन" की सचित्र प्रति तो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इतने बड़े संग्रह का जितना और जैसा उपयोग होना चाहिये था, नहीं हो रहा है, यह दुख की बात है। आवश्यकता है इसका अधिकाधिक लाभ उठाया जाय।

भवन की ओर से "जैन सिद्धान्त भास्कर" नामक महत्त्वपूर्ण शोधपत्रिका- सन् १९१२ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई थी! मेरी जानकारी में इतनी ठोस ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में लाने वाली यह सर्व प्रथम जैन-हिन्दी-पत्रिका है। प्रथम वर्ष उसके सम्पादक स्व० पद्मराज रानीवाला थे। बीच में २२ वर्ष इसका प्रकाशन स्थगित रहकर

सन् १९३६ में पुनः चालू हुआ तब से हिन्दी के साथ अंग्रेजी में जैन एन्टीक्वेरी (Jain Antiquary) भी चालू की गई और कई वर्षों तक त्रैमासिक और पिछले कुछ वर्षों से षाण्मासिक के रूप में २२ वर्षों तक ये दोनों संयुक्त रूप में प्रकाशित होते रहे। इन दोनों सयुक्त पत्रों में जैन साहित्य, पुरातत्त्व, इतिहास, कला संबंधी सैकड़ों महत्त्वपूर्ण निबध प्रकाशित हुए हैं। भास्कर के भाग २ किरण २ में श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती का एक लेख सस्कृत दूत काव्यों के संबंध मे निकला था उसकी पूर्तिरूप में मेरा लेख भाग ३, किरण १ मे सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ तब से लेकर जब तक पत्र प्रकाशित होता रहा (सन् १९५५ दिसम्बर तक) और मेरे लेख भी बराबर प्रकाशित होते रहे हैं। भवन ने भास्कर और Antiquary को इतने वर्षों तक प्रकाशित करके वास्तव मे जैन साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की है। पत्र के अतिरिक्त 'मुनिसुव्रत काव्य' 'ज्ञानप्रदीपिका' आदि कई महत्त्वपूर्ण ग्रथ भी भवन से प्रकाशित हुए हैं और पत्र में प्रकाशित प्रतिमा लेख सग्रह, प्रशस्ति सग्रह, वैद्यसार आदि कई ग्रन्थ स्वतत्र पुस्तिका के रूप मे भी प्रकाशित किये गये हैं। आर्थिक कठिनाइयों आदि के कारण इधर कुछ वर्षों से भवन विशेष प्रगति न कर सका। ५ वर्ष तक पत्र को भी बन्द कर देना पड़ा। यह जैन समाज के लिये लज्जा और खेद की बात है। भवन की अर्द्ध शताब्दी के उपलक्ष्य मे पत्र को पुन: चालू किया जा रहा है और स्वर्ण-जयती का आयोजन भी हो रहा है। आशा है अब पिछली कमी की पूर्त्ति विशेष प्रगति द्वारा कर दी जायगी।

आज हिन्दी क्षेत्र मे रिसर्च—शोध का कार्य बड़ी तेजी पर है, पर शोध-प्रबन्ध के लेखकों को आवश्यक सामग्री प्राप्त करने मे बड़ी कठिनाई होती है। अतः "भवन" जैसे प्राचीन और समृद्ध ग्रन्थागारों से उन्हें बहुत सहायता मिल सकती है। आवश्यकता है इधर कुछ वर्षों मे जो अनेकों महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उन्हें भी भवन मे मगवा लिया जाय और एक रिसर्च-गाईड की नियुक्ति की जाय। वैसे श्री प्रो० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री एम. ए., पी-एच. डी. बड़ी लगन से भवन की सेवा कर रहे हैं और वे बहुत अच्छे विद्वान् हैं अतः उनके निर्देशन में भी शोध-कार्य हो सकता है। एक ओर जैन साहित्य, इतिहास, दर्शन, कला के क्षेत्र में अनुसंधान बहुत ही कम हुआ है, तो दूसरी ओर शोध-छात्रों को शोध के विषय नहीं मिल रहे हैं। अतः यदि उन्हें जैन-विषय देकर सुविधा और सहयोग द्वारा शोधकार्य करवाया जाय तो एक बड़े अभाव की पूर्ति सहज ही में हो जा सकती है। जैन साहित्य एवं कला का अध्ययन होने से उसका महत्त्व प्रकाश में आयगा। आशा है स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष्य में भवन को एक "शोध-केन्द्र" बनाने की योजना कार्यान्वित की जायगी। मैं भवन के उज्ज्वल भविष्य की शुभकामना करता हूँ।

दो अलंकार ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ

श्री जैनसिद्धान्तभवन ग्रन्थागार में विभिन्न विषयों की पाण्डुलिपियों में दो अलंकार ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ भी विद्यमान हैं। ये दोनों ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं। अलंकारशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिये इन ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री वर्तमान है। यहाँ इन दोनों ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

शृंगारार्णव चन्द्रिका—

इस अलंकार ग्रन्थ के रचयिता विजयकीर्ति के शिष्य विजयवर्णी हैं। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। कवि वर्णी ने प्रशस्ति में इस ग्रन्थ के प्रणयन की प्रेरणा देनेवाले कामरायवंग के वंश का विस्तार सहित उल्लेख किया है।

श्रीमद्भरतराजेन्द्रनामचक्रधरोपमम् ।
श्री वीरनरसिंहाख्यबंगभूमीश्वरो महान् ॥११॥
पालयन्त्यमलां बंगवाडीपुरसमन्विताम् ।
कादम्बवंशजनितानेक भूमीशपालिताम् ॥१२॥
तस्यानुजो गुणा ···· दी पाण्ड्यनरेश्वरः ।
सत्येन रामचन्द्रोऽभूद्धर्मेण भरतेश्वरः ॥१३॥
रत्नत्रयमहाधर्मरक्षको राजशेखरः ।
महाकविजनस्तुत्यो मानसत्कीर्तिनायकः ॥१४॥
सोऽपि श्री पाण्ड्यवंगोऽयं जिनपादाब्जषट्पदः ।
अनुक्रमगतां भूमिं पूर्वोक्तां रक्षतिस्म वै ॥१५॥
तस्य श्रीपाण्ड्यवंगस्य भागिनेयगुणार्णवः ।
विट्ठलाम्बा महादेवी पुत्रो राजेन्द्रपूजितः ।१६॥
श्रीकामरायवंगोऽभून्नाम्ना नृपतिकुञ्जरः ।
वैरिसन्दोहमन्येभ घटाकण्ठीरवोपमः ॥१७॥
क्रमागतामिमां भूमिं पश्चिमाम्भोधिभूषिताम् ।
श्रीकामिरायवंगेन्द्रः पालयत्यमलश्रियम् ॥१८॥

* * * * *

इत्थं नृपप्रार्थितेन मयाऽलङ्कारसंग्रहः ।
क्रियते अल्पबुद्ध्या हि शृङ्गारार्णवचन्द्रिका ।२२।

अर्थात्—कदम्ब वंश के राजाओं के द्वारा रक्षा की गयी भूमि का शासन करनेवाला वीरनरसिंह हुआ। इसने ई० सन् ११९७ में बंगवाडि में अपनी राजधानी स्थापित की थी। इसने धर्म और न्याय पूर्वक प्रजा का पालन किया था। इस राजा का भाई पाण्ड्यराज हुआ। यह सत्य पालन करने में रामचन्द्र के समान और धर्म पालन करने में भरतेश्वर के समान था। पाण्ड्यप्प वंग शासक ई० सन् १२२४ में राज्यासीन हुआ। वीर नरसिंह का पुत्र राजशेखर हुआ। यह रत्नत्रय धर्म का महान् रक्षक था। यह यशस्वी था और महान् कवियों के द्वारा स्तुत्य भी।

जैनधर्म के दृढ़ श्रद्धालु पाण्ड्यवंग का भानजा कामरायवंग हुआ। इसकी माता का नाम विट्ठलादेवी था। इस देवी ने भी ई० सन् १२३९ में राज्य संचालन किया था। इसके पश्चात् ई० सन् १२६४ में इनका पुत्र कामरायवंग राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इसी कामरायवंग की प्रेरणा एवं प्रार्थना से कवि विजयवर्णी ने इस अलंकार ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

कवि वर्णी की इस वश के प्रति बड़ी आस्था है। उसने दशम परिच्छेद की पुष्पिका में वीर नरसिंह और कामरायवंग इन दोनों के शासनों का स्मरण किया है। साथ ही अलंकारों के उदाहरणों में कामराय की प्रशंसा करते हुए बताया है कि इस राजा के राज्य में कवि आनन्दपूर्वक काव्यों का प्रणयन करते हुए सम्मान और धन प्राप्त करते हैं। मुनीश्वर सम्यक्त्वरत्न से युक्त, तत्त्वज्ञान से मण्डित और रागद्वेष से रहित चरित्र का संवर्द्धन करते हैं। प्रजाजन स्वकार्यनिरत हो धर्मसाधन करते हैं। पुष्पिका निम्न प्रकार है—

इति परमजिनेन्द्रवदनचन्द्रविनिर्गतस्याद्वादचन्द्रिकाचकोरविजयकीर्त्तिमुनीन्द्रचरणाब्जचञ्चरीकविजयवर्णिविरचिते श्रीवीरनरसिंहकामरायनरेन्द्रशरदिन्दुसन्निभकीर्त्तिप्रकाशके शृंगारार्णवचन्द्रिकानाम्नि अलङ्कारसंग्रहे दोषगुणनिर्णयो नाम दशमः परिच्छेदः समाप्तः।

अतएव स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का रचनाकाल १३ वीं शताब्दी है। कवि विजयवर्णी ने कर्णाटक कवि गुणवर्मा का भी उल्लेख किया है। इस कवि ने पुष्पदन्त पुराण की रचना की है।

इस अलंकार ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं—

(१) वर्णगणफल निर्णय।

(२) काव्यगतशब्दार्थनिर्णय।

(३) [illegible]।

(४) नायकभेदनिर्णय।

(५) दशगुणनिर्णय।

(६) रीतिनिर्णय।

(७) वृत्तिनिर्णय।

(८) शय्याभागनिर्णय।

(९) अलंकारनिर्णय।

(१०) दोषगुणनिर्णय।

प्रथम परिच्छेद में काव्यारम्भ में प्रयुक्त होनेवाले पद्यों के प्रथमाक्षरों का फलाफल निरूपण करने के उपरान्त गण की परिभाषा, नाम, स्वरूप एवं गणों के देवता और उनके फलादेश का विवेचन किया है। विषय बहुत नया न होते हुए भी प्रतिपादन की शैली आकर्षक है। काव्यारम्भ के उपकरणों का सुन्दर और संक्षिप्त विवेचन किया है। किन-किन गण और शब्दों से आरम्भ होनेवाला काव्य कवि एवं नायक के लिये अशुभ होता है और किस प्रकार के शब्दों से आरम्भ होनेवाला काव्य शुभ होता है इसका विश्लेषण बहुत विस्तार के साथ किया गया है। ऐसा लगता है कि कोई प्राध्यापक अपने शिष्यवर्ग को काव्य की शिक्षा दे रहा है। अतः छोटीसी छोटी बात का भी कथन कर देना आवश्यक है। यहाँ उदाहरणार्थ स्वरवर्णों के फलाफल का उल्लेख उपस्थित किया जाता है :—

> अकारादिक्षकारान्तवर्णास्तेषु शुभा हा ।
> केचित्केचिदनिष्टाख्य वितरन्ति फल नृणाम् ।।१६ १ प०
> ददात्यवर्ण सम्प्रीतिमिवर्णो मुदमुद्वहेत् ।
> कुर्यादुवर्णो द्रविण तत स्वरचतुष्टयम् ।। १७-१ प०

अर्थात्—अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त वर्ण है। काव्यारम्भ में इन वर्णों मे से किसी वर्ण का प्रयोग किया जाता है। प्रायः अधिकांश वर्ण शुभ फल देनेवाले हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी वर्ण हैं, जिनका प्रयोग करने से कवि और नायक को अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है। अवर्ण से आरम्भ होनेवाला काव्य सम्मान और यश प्रदान करता है, इवर्ण से आरम्भ होनेवाला काव्य स्वान्तःसुखाय तो होता ही है, पर साथ पाठकों को भी आनन्द देता है। उवर्ण से आरम्भ होनेवाला काव्य धन प्रदान करता ही है। अनन्तर—इनके आगे वाले स्वरचतुष्टय से आरम्भ होनेवाला काव्य अनिष्ट फल प्रदान करता है।

इसी प्रकार व्यञ्जन वर्णों में से प्रत्येक व्यञ्जन का पृथक् पृथक् फल वर्णित है। द्वितीय परिच्छेद में काव्य के चार अर्थों का विवेचन किया है—

(१) मुख्यार्थ ।

(२) लक्ष्यार्थ ।

(३) गौणार्थ ।

(४) व्यंग्यार्थ ।

अभिधाजन्य अर्थ को मुख्यार्थ कहा है, किन्तु इस मुख्यार्थ और अभिधाजन्य अर्थ में थोड़ा सा अन्तर स्थापित किया है। अभिधा के व्यापार को आचार्य वर्णी शेष तीन प्रकार के अर्थों तक व्याप्त मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने वाच्य या अभिधेय न कहकर प्रथम प्रकार के अर्थ को मुख्यार्थ कहा है। मुख्यार्थ काव्य का वह अर्थ है जो काव्य के पढते या सुनते ही शब्दों के माध्यम से पाठक और श्रोताओं के सामने नाचने लगता है। प्रथम दृष्टिपात करते ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही अर्थ मुख्यार्थ है। यद्यपि वाचक शब्दों में अर्थ की बहुलता है, उनमें अर्थ की अपार शक्ति छिपी हुई है, तो भी मुख्यार्थ प्रकट होता है। लक्ष्यार्थ में मुख्यार्थ की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु शब्दों के सम्बन्ध से प्रयोजनवश अन्य अर्थ की उपलब्धि होती है। शब्दों के वाचक धर्म का विस्तार तो मानना ही पड़ता है। तात्पर्यवृत्ति के मूल में भी वाचकधर्म का विस्तार ही विद्यमान है।

आचार्य विजयवर्णी ने शब्द की व्यापक अभिधाशक्ति को अवगत कर उसे दो भागों में विभक्त कर दिया है—मुख्यार्थ और अभिधाजन्य वाच्यार्थ अभिधाजन्य। वाच्यार्थ से उनका तात्पर्य मुख्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ से है। मम्मट हो, परन्तु आदि आचार्यों ने भी लक्षणा की परिभाषा में मुख्यार्थ की बाधा—मुख्यार्थ की सिद्धि न उससे सम्बन्ध बना रहना आवश्यक माना है। तात्पर्य यह है कि आचार्य मम्मट के मत में किसी विशेष प्रयोजन के कारण शब्द अपने मुख्य अर्थ को छोड़ किसी अन्य अर्थ को लक्षित कराता हो तो उस अर्थप्रतीति के व्यापार को लक्षणा कहते हैं। इस परिभाषा में मुख्यार्थ बाधित है, पर समस्त वाच्यार्थ बाधित नहीं है। वाच्यार्थ का सम्बन्ध बना हुआ है। अतएव हमें आचार्य वर्णी की परिभाषा में मुख्यार्थ और अभिधाजन्य अर्थ ये दो वाच्यार्थ के भेद रहने से एक नया दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। इस प्रक्रिया द्वारा वाच्यार्थ की व्यापकता पर पूरा प्रकाश पड़ता है। निस्सन्देह वे वाच्य अर्थ की व्यापकता को स्वीकार करते हैं। यतः लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का येन-केन प्रकारेण वाच्यार्थ से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध बना रहता है।

अथवा वाच्यार्थ इतना विराट् है, जो लक्ष्यार्थ के साथ तो सम्बन्ध बनाये ही रखता है, पर व्यंग्यार्थ के साथ भी किसी न किसी रूप में सम्बद्ध है। वाच्यार्थ के विशाल स्वरूप को इन्होंने बड़े सुन्दर रूप में उपस्थित किया है।

इसी प्रकरण में कवियों के भेद-प्रभेदों का निरूपण भी किया है। इनके मत से कवि सात प्रकार के होते हैं। महाकवि इन सातों प्रकार के कवियों से ऊँचे स्तर का होता है। यथा—

१ रौचिक।
२ वाचिक।
३ अर्थी।
४ शिल्पिक।
५ मार्दवानुग।
६ विवेकी।
७ भूषणार्थी।

रौचिक और वाचिक वचनाडम्बर से युक्त होते हैं। ये दोनों शब्दप्रेमी होते हैं। शब्दावली का ऐसा घना जाल बिछाते हैं, जिससे अर्थ उलझ जाता है और उक्त चारों प्रकार के अर्थों में से मात्र मुख्यार्थ ही प्रतीत होता है तथा इस मुख्यार्थ की प्रतीति के लिए भी अधिक प्रयास करना पड़ता है। पदकाठिन्य इतना अधिक रहता है, जिससे कविता शिलोपम दिखलायी पड़ती है। शिला को तोड़ कर जल निकालना जितना कठिन होता है, उतना ही रौचिक और वाचिक कवियों की कविता से मुख्यार्थ ग्रहण करना भी। अप्रसिद्ध और दुरूह शब्दों के चयन करने वाले कवि उक्त कोटि में आते हैं। वाचिक कवि संज्ञा, क्रिया या इन दोनों का एकान्त रूप से प्रयोग करता है।

रौचिक और वाचिक में इतना ही अन्तर है कि रौचिक कवि देशभाषा का टाइप कवि होता है। उसकी कविता ग्रामीण जैसी होती है, यद्यपि व्याकरण सम्मत पदावली का व्यवहार करता है, पर गेयतत्व प्रायः लुप्त रहता है। वाचिक कवि की कविता में गेयता रहती है, शब्दावली में काठिन्य रहने पर भी उसका विन्यास स्वर और लय के रूप में किया जाता है।

अर्थी कवि अर्थप्रेमी होता है, कविता में बलपूर्वक अर्थवैचित्र्य की योजना करता है। विषय और भाव के सम्बन्ध को दूर छोड़कर विचित्र-विचित्र अर्थों की योजना करता रहता है। शब्द योजना और अर्थ योजना में सन्तुलन नहीं रहता है, यही कारण है कि यह कवि प्रबन्ध काव्य का स्रष्टा नहीं हो सकता। कदाचित् यह प्रबन्ध

का प्रणयन करे भी तो इसे सफलता नहीं मिल पाती है।

शिल्पिक कवि एक कुशल शिल्पी होता है। यह उस कारीगर के समान है जो मूर्त्ति के सुन्दर अंगोपाङ्गों के साथ उसमें सौम्यता और भव्यता भी अंकित करना चाहता है। मूर्त्ति को बहिरंग सुन्दर बनाने में जितना श्रम और शक्ति का व्यय शिल्पी करता है, उतनाही उसकी भावभंगिमाओं को उभाड़ने में भी उसे श्रम करना होता है। शिल्पिक कवि भी रम्य शब्दावली में रम्य भावों को अभिव्यंजित करता है। यद्यपि रमणीय शब्द और अर्थ के संयोजन की जितनी और जैसी आवश्यकता है, उसकी पूर्त्ति उससे नहीं हो पाती है।

मृदुभाक् या मार्दवानुग कवि मृदु और ललित पदों की योजना के साथ अर्थ-गाम्भीर्य का भी सन्निवेश करता है। प्रबन्ध और गीति दोनों प्रकार के काव्यों का निर्माण इस कोटि के कवि करते है। इस कवि में एक कमी यह रहती है कि यह गीति काव्य के सृजन मे जितना कौशल प्रदर्शित करता है, उतना प्रबंध काव्य के सृजन में नहीं। वस्तु वर्णन और कथा संघठन में असफल रहता है।

विवेकी कवि को शब्द और अर्थ के विवेक के साथ काव्य के समस्त उपकरणों का विवेक रहता है। वह उक्ति, रस एवं अलंकारों का सन्तुलित रूप में संयोजन करता है। भूषणार्थी अलंकार प्रेमी होता है और अलंकारों की योजना में पूर्ण पटुता प्रदर्शित करता है।

आचार्य वर्णी के समान ही राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी कवियों के आठ भेद बतलाये गये हैं[१]—(१) रचनाकवि, (२) शब्दकवि, (३) अर्थकवि, (४) अलंकार-कवि, (५) उक्तिकवि, (६) रसकवि, (७) मार्गकवि, और (८) शास्त्रार्थकवि।

राजशेखर के रचनाकवि और शब्दकवि हमारे वर्णी के रौचिक और वाचिक कवि हैं। राजशेखर ने उक्तिकवियों के लक्षणों का विशेष विवेचन कर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। विजयवर्णी ने लक्षणों का भी विवेचन किया है।

रसभाव निर्णय परिच्छेद में अन्य अलंकार ग्रन्थों की अपेक्षा कई नवीनताएँ वर्तमान हैं। एकाध नवीनता का निरूपण किया जाता है।

रस की परिभाषा में भरत मुनि के "विभवानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के सम्बन्ध से रस का प्रकाश होता है; सूत्र के आधार पर ही बतलाया है—

१—देखें—काव्यमीमांसा पाँचवाँ अध्याय—कवि भेद।

एवमन्ये स्थायिभावाभावैर्व्यक्ता रसाः स्मृताः ।
स्वर्णो वह्नियुतं याति रसभावं यथा भुवि ॥

अर्थात्—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यञ्जनावृत्ति द्वारा जो स्थायी भाव प्रतिपादित किया जाता है, वह उसी प्रकार रस कहलाता है, जिस प्रकार पृथ्वी पर अग्नि के संयोग से स्वर्ण रसभाव को प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि इस उदाहरण द्वारा आचार्य ने बतलाया है कि स्वर्णरस तैयार करने के लिए औषधि योग और अग्निसंयोग इन दोनों की आवश्यकता है, अन्यथा रस निष्पन्न नहीं हो सकता है, इसी प्रकार विभाव और अनुभावों से पुष्ट हुआ स्थायी भाव अभिव्यक्त हो रसभाव को प्राप्त होता है।

इस प्रकरण में सभी रसों के विभाव, अनुभावों का बड़ी सरलता के साथ साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। शृङ्गाररस के विवेचन में बताया गया है—

आलंबनविभावोऽत्र शृंगाराख्यरसे स्मृतः ।
कांताया कामुको लोके कामुकस्य तु कामिनी ॥ ६ ॥
वसन्तोद्यानकासार शुकध्वनिपिकस्वराः ।
शिखिताण्डवजीमूतध्वनिहंसविकूजनम् ॥२७।
चक्रवाकरतिक्रीडाचंचरीकालिगुंजनम् ।
मलयानिलसंचारश्चन्द्रतापविलासनम् ॥२८।
इन्द्रगोपस्य पतन (दर्शनं) चन्दनादिविलेपनम् ।
उद्दीपनविभावाऽत्र शृङ्गारे जायतां बुधैः ॥२९॥
अनुभावास्तु शृंगारे कामुकस्याङ्गसंभवाः ।
कामुकी कामजाता वा विकाराः परिकीर्त्तिताः ॥३०॥

शृङ्गाररस में नायिका के लिए नायक और नायक के लिए नायिका आवलम्बन विभाव है। वसन्त, उद्यान, सरोवर, शुकध्वनि, कोयल का स्वर, मयूर का नृत्य, मेघगर्जन, हँस का कूजन, चक्रवाक की रतिक्रीड़ा, भ्रमरों का गुंजार, मलयानिल का संचार, चन्द्रोदय, इन्द्रगोप का दर्शन, एवं चन्दन का विलेपन उद्दीपन विभाव हैं। अनुभाव नायिका के शरीर में उत्पन्न विकार अथवा नायक के शरीर में उत्पन्न विकार है।

शृंगाररस की सामग्री के विश्लेषण में पर्याप्त विस्तार है। संयोग और वियोग दोनों ही शृङ्गारों की अनुभाव विभाव सम्बन्धी सामग्री पूर्णतया विवेचित है।

शान्तरस के सम्बन्ध में इनके विचार बिलकुल नये हैं। इस रस की सामग्री जैन दर्शन के आधार पर वर्णित है।

> शमाख्यस्थायीभावोऽयं विभावादिचतुष्टयात्।
> व्यक्तशान्तरसः प्रोक्तो गुणशालिकवीश्वरैः ॥१०६॥
> आलम्बनविभावस्तु पञ्चानां परमेष्ठिनाम्।
> स्वरूपं निजरूपं वा निश्चयव्यवहारतः ॥११०॥
> उद्दीपनास्तु स्याद्वादवेदिसभाषणादयः।
> सर्वत्र शमभावादरनुभावः प्रकीर्त्तितः ॥१११॥
> पुलकस्तम्भभावादिः सात्त्विकः परिकीर्त्तितः।
> संचारीभावो निर्वेदधृतिमत्यादिको मतः ॥११२॥

शान्तरस का स्थायी भाव शम है! जब यह विभाव, अनुभाव और संचारीभावों द्वारा अभिव्यक्त होता है, तो शान्तरस की निष्पत्ति होती है। इस शान्तरस का आलम्बन विभाव व्यवहारनय की अपेक्षा पञ्चपरमेष्ठी का स्वरूप है और निश्चयनय की अपेक्षा अपना निजरूप ही आलम्बन विभाव है। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत स्याद्वाद आगम के वेत्ताओं के उपदेश शामिल हैं। शम आदि भाव इस रस के अनुभाव कहे गये हैं। पुलक, स्तम्भ आदि भाव इस रस के सात्त्विक भाव हैं। निर्वेद, धृति और मति को संचारी भाव माना गया है।

उपर्युक्त शान्तरस के विवेचन से स्पष्ट है कि इस रस की समस्त सामग्री जैन दर्शन द्वारा अनुमोदित है। यह विषय समस्त अलंकार ग्रन्थों की अपेक्षा नवीन है।

नायकभेद प्रकरण में सामान्यतः कोई नवीनता नहीं है। नायकों के भेदों में शान्तरस के अधिष्ठाता योगीश्वरों को भी परिगणित किया है। यतः शान्तरस प्रधान काव्य योगीश्वर या तीर्थङ्कर के चरित्र को लेकर ही लिखे जाते हैं। साधारणतः इस प्रकरण में नायक-नायिकाओं के भेदों में त्रेसठ शलाका पुरुषों को भी स्थान दिया है और गुणों में सम्यक्त्व, दया, निर्वेद आदि को परिगणित किया है।

पञ्चमपरिच्छेद में अन्य अलंकार ग्रन्थों से तुलना करने पर कतिपय विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। आचार्य दण्डी ने गुणों को वैदर्भी रीति के प्राण—जीवनाधायक (स्वरूपोपपादक) कहा है[1]। आचार्य वामन "समग्रगुण वैदर्भी[2]" द्वारा वैदर्भी रीति में उक्त दश गुणों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पर हमारे आचार्य वर्णी इन दश

[1] 'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः'—काव्य दर्श प्र० परि० श्लो०
[2] काव्यालंकार सूत्रवृत्ति अधि० १, अध्याय २ सूत्र ११।

गुणों को काव्य के लिए उसी प्रकार आवश्यक मानते हैं, जिस प्रकार जीवित रहने के लिए दश प्राण। इस कथन से हमारे सामने दो बातें उपस्थित होती हैं। पहली बात तो यह है कि गौडीरीति में आचार्य दण्डी आदि ने इन गुणों का विपर्ययत्व—अत्यन्ताभाव स्वीकार किया है। आचार्य वामन ओज और कान्ति गुण गौडीरीति के लिये आवश्यक मानते है। पर आचार्य वर्णी ने सामान्यतः काव्य की सभी रीतियों में दशगुणों का समान महत्व माना है। दूसरी बात यह है कि काव्य के लिये माधुर्य गुण जितना आवश्यक है, उतना ही अन्य गुणों का अस्तित्व भी। हाँ यह संभव है कि इन गुणों की मात्रा न्यूनाधिक हो सकती है। आचार्य वर्णी ने "एते दशगुणाः प्रोक्ता दश प्राणाश्च भाषिताः" कारिकांश में ही उक्त विशिष्टय को भर दिया है।

इस प्रकरण की एक विशेषता यह भी है कि गुणों के उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों से नहीं लिये गये हैं। उदाहरण भी इनके स्वरचित ही है तथा अधिकांश उदाहरणों में बंगराय, वीरनरसिंह एवं पाड्यबंग की प्रशंसा ही वर्तमान है। गुणों के लक्षणों में उनका अपना दृष्टिकोण है। पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को ग्रहण करने पर भी एकाध नयी बात ऐसी कह दी गयी है, जिससे लक्षणों में चमत्कार उत्पन्न हो गया है। सुकुमार गुण का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

श्रुतिचेतोद्वयानन्दकारिणां कोमलात्मनाम्।
वर्णानां रचनान्यासः सौकुमार्यं निरूप्यते ॥

कान और मन को आनन्दित करनेवाले कोमल वर्णों के विन्यास को सुकुमार गुण कहते हैं। इस लक्षण में श्रुतिकटुत्व दोष के परिष्कार के साथ चेतो आह्लादक धर्म को भी स्थान दिया गया है; जिससे यह ध्वनित होता है कि सुकुमार वाक्य में सभी अक्षर कोमल नहीं होते, बल्कि बाहुल्य ऐसे वर्णों का होता है जो सुनने में प्रिय हों, और मन को आनन्दित भी करे। जिस प्रकार मुक्तामाला में बीच-बीच में अन्य रत्न लगा देने पर भी उसकी शोभा और अधिक बढ जाती है, उसी प्रकार सुनने में प्रिय और मनको आनन्दित करने वाले पुरुष वर्ण भी स्थान पा सकते हैं। अतः इस लक्षण में "कोमलात्मनाम्' पद ऐकान्तिक नहीं है। यह "श्रुतिचेतोद्वयानन्दकारिणां" से विशिष्ट होकर "वर्णानां" का विशेषण बना है। अतएव सुकुमार गुण की परिभाषा नयी न होते हुए भी विशिष्ट अवश्य है। इसका उदाहरण निम्न प्रकार है—

श्रीरायबंगक्षितिनायककीर्तिविशालावरचन्द्रिकेव।
न चेत्रिलोकीजनचित्तजातं सन्ताप-जालं क निराकरोति ॥

रीति और वृत्तिनिर्णय में भी लक्षणगत कुछ विशेषताएँ वर्तमान है। अवकाश मिलने पर इन लक्षणों का तुलनात्मक विवेचन किया जायगा।

अलंकारप्रकरण में उपमा के तेतीस भेद तथा रूपक के समस्तरूपक, व्यस्तरूपक, समस्त-व्यस्तरूपक, सकलरूपक, अवयवरूपक, अवयविरूपक, एकावयवरूपक, मुक्तरूपक, अमुक्त-रूपक, विशेषणरूपक, विरुद्धरूपक,हेतुरूपक, उपमारूपक, ध्वनिरूपक आदि बीस भेदों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। अतिशयोक्ति के अद्भुतातिशयोक्ति और विरोधा-तिशयोक्ति भेदों का सोपपत्तिक विवेचन है। इस प्रकार इस ग्रंथ के अलंकार परिच्छेद में पर्याप्त अध्ययनीय सामग्री वर्तमान है।

२ अलंकार-संग्रह—

इस ग्रंथ के रचयिता अमृतनन्दी कवि हैं। इन्होंने ग्रन्थारम्भ में बताया है कि मन्वभूपति की अनुमति प्राप्त कर इस ग्रन्थ का संकलन किया जा रहा है। यतः

उद्दामफलदां गुर्वीं मुदधिमेखलाम् ?
भक्तिभूमिपतिः शास्ति जितपादाब्जषट्पद. ॥३॥
तस्य पुत्रस्त्यागमहासमुद्रविरुदाङ्कितः।
सोमसूर्यकुलोत्तंसो महितो मन्वभूपतिः ॥४॥
स कदाचित्सभामध्ये काव्यालापकथान्तरे।
अपृच्छदमृतानन्दमादरेण कवीश्वरम् ॥५॥

उपर्युक्त प्रशस्ति में यह राजा सोमसूर्यकुलावतंस, त्याग महासमुद्रविरुदाङ्कित कहा गया है। मन्वभूपति के पिता का नाम भक्ति भूमिपति था, यह जिनचरणों में चंच-रीक था। बताया जाता है कि तिरुचनापल्ली के जम्बुकेश्वर देवस्थान में प्राप्त प्रताप-रुद्रदेव के एक शासन से मन्वगण्डगोपाल नामक एक प्रतापरुद्र का सामन्त था, यही मन्वगण्डगोपाल अमृतनन्दी का आश्रयदाता है[1]। नेल्लूर के एक शासन में इस भूपति का उल्लेख निम्न प्रकार आया है—

तस्याग्रज. सुतो मन्वगण्डगोपालभूपतिः।
प्रतापरुद्रभूपस्य प्रसादार्ज्जितवैभवः॥

यह उल्लेख ई० सन् १२९९ का है, अतः इस कवि का समय १३ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है।

इस ग्रन्थ के विषय विभाजन एवं ग्रथनशैली के देखने से स्पष्ट अवगत होता है कि यह शृंगारार्णव चन्द्रिका के पश्चात् ही लिखा गया होगा। शृंगारार्णव चन्द्रिका का प्रभाव इस पर स्पष्ट है।

1. देखें—रं० के० मुत्तरज्ञो शास्त्री द्वारा सम्पादित प्रशस्ति संग्रह पृ. २४

यह संग्रह ग्रन्थ है, जैसा कि इसके नाम से ही अवगत होता है। आरम्भ में आचार्य दण्डी की कारिकाएँ ही संग्रहीत हैं। हाँ, कवि ने उन कारिकाओं का क्रमभंग कर दिया है और एक कारिका का अर्धांश लेकर दूसरी कारिका के अर्धांश में मिला, एक नयी कारिका गढ़ दी है। इस ग्रन्थ में ९ परिच्छेद हैं :—

१ वर्णगणविचार परिच्छेद।
२ शब्दार्थनिर्णय परिच्छेद।
३ रसनिर्णय परिच्छेद।
४ नेतृभेदनिर्णय परिच्छेद।
५ अलंकारनिर्णय परिच्छेद।
६ दोषनिर्णय परिच्छेद।
७ संध्यंगनिरूपण परिच्छेद।
८ वृत्तिनिरूपण परिच्छेद।
९ वस्तुनिर्णय परिच्छेद।

प्रथम परिच्छेद में वर्ण और पदों का विचार किया गया है। वर्ण अकार से क्षकार पर्यन्त होते हैं और पदों के दो भेद हैं—सुबन्त और तिङन्त पदों का व्यवहार करता है। प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ज्ञान से जो हमारे अन्तःकरण पर प्रभाव—प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उनका मन समीकरण करके बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है तथा बुद्धि अन्तः-करण के सहयोग से विभिन्न रूपों में अर्थों को उपस्थित करती है, यही कल्पना की ललित क्रीड़ा है। वस्तु और भाव का उत्कर्ष, साम्य की स्थापना, वैषम्य की धारणा एवं प्रस्तुत विधान कल्पना द्वारा ही संभव है। इस प्रकार इस अलंकार संग्रह में 'कविक्लृप्तानि सार्थानि' द्वारा कल्पना का महत्त्व निर्धारित किया है।

काव्य की परिभाषा में सालंकार और दोषरहित पदों को परिगणित किया गया है। रस काव्य का सर्वस्व है, पर अलंकारों के अभाव मे काव्य में चमत्कार उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः दोषों का अभाव और अलंकारों का सद्भाव काव्य के लिए आवश्यक है। इस प्रकार आरम्भ में काव्य के भेद, स्वरूप एवं महाकाव्य के वर्ण्य विषय आदि का विस्तृत विवेचन विद्यमान है। वर्ण और गण की शुद्धि पर जोर देते हुए कहा है :—

वर्णं गणं च काव्यस्य मुखे कुर्यात् सुशोभनम्।
कर्तृनायकयोस्तेन कल्याणमुदजायते ॥२३॥

अन्यथाऽनिष्टसम्पत्तिरनयोरेव संभवेत् ।

तद्वर्णानां गणानां च शुद्धिर्ज्ञेया क्रमधिया ॥२४॥

द्वितीय परिच्छेद में कवियो के भेद, शब्दों की शक्तियाँ एवं अर्थों के प्रकार वर्णित हैं। इस परिच्छेद की अधिकांश कारिकाएँ भी दण्डी, मम्मट से सीधी ली गई हैं अथवा तोड़-मरोड़ कर उन्ही की शब्दावली में नयी कारिकाएँ लिखी गयी हैं। इतना होने पर भी जो कारिकाएँ संकलित की गयी हैं, उनसे विषय का स्पष्टीकरण सरलतापूर्वक होता है। उलझन नाम की चीज कहीं भी नहीं है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ कारिकाएँ उपस्थित की जाती हैं :—

वाच्यार्थानुपपत्तो यतस्तत्सम्बन्धी प्रतीयते ।

प्रयोजनवशादन्यो लक्ष्योऽर्थो लक्षणा त्रिधा ॥ २-१३ ।

वाच्यार्थस्य परित्यागादन्योर्थो यत्र लक्ष्यते ।

सा जहल्लक्षणा ज्ञेया गङ्गायां घोष इत्यसौ ॥ २-१४

वाच्यार्थस्यापरित्यागादन्योऽर्थो यत्र लक्ष्यते ।

अजहल्लक्षणा कुन्ताः प्रविशन्तीति सा मता । २-१५॥

जहती चाप्यजहती स्वार्थं या तूभयात्मिका ।

सा च्छत्रिणो व्रजन्तीति तत्रोदाहरणं मतम् ।।२-१६॥

एकेन छत्रिणान्येषां छत्रित्वमिह लक्ष्यते ।

स गौणो गुणसादृश्यादन्योर्थो च प्रतीयते ।।२१७।

अतः स्पष्ट है कि लक्षणा, व्यञ्जना, और अभिधा का बहुत ही सरल एवं सुस्पष्ट विवेचन इस अलंकार ग्रन्थ में विद्यमान है।

इस संग्रह में रत्नावली नाटिका से भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। "श्रीहर्षो निपुणः कविः.................. ...." श्लोक भी इसमें संग्रहीत है। रीति, वृत्ति, नायक आदि का विवेचन भी विस्तार पूर्वक किया गया है। वस्तुनिर्णय परिच्छेद में कथावस्तु एवं उसके शिल्प के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

प्राकृत व्याकरण की पाण्डुलिपि

प्राकृत भाषा के अनेक व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं। अप्रकाशित व्याकरणों में आचार्य श्रुतसागर का प्राकृत व्याकरण जिज्ञासुओं के लिए उपादेय है। इसकी एक पाण्डुलिपि श्री जैनसिद्धान्त भवन, आरा में विद्यमान है। ये श्रुतसागर बहुश्रुत विद्वान् थे और कालिकाल सर्वज्ञ कहलाते थे। ग्रन्थ के अन्त में दी हुई प्रशस्ति से इनकी गुरुपरम्परा एवं विद्वत्ता का पता चलता है।

इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिव्याकरणकमलमार्त्तण्डतार्किकशिरोमणिपरमागमप्रवीणसूरिश्री-देवेन्द्रकीर्तिप्रशिष्यमुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिभट्टारकान्तेवासिश्रीमूलसंघपरमात्मविद्वत्सूरिश्रीश्रुतसागर-विरचिते औदार्यचिन्तामणिनाम्नि स्वोपज्ञवृत्तिनि प्राकृतव्याकरणे सयुक्ताव्ययनिरूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

उपर्युक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि ये श्रुतसागर उभयभाषा कविचक्रवर्ती, व्याकरण-कमलमार्त्तण्ड, तार्किक शिरोमणि और परमागम प्रवीण थे। मूलसंघ, सरस्वती गच्छ और बलात्कारगण के आचार्य देवेन्द्रकीर्त्ति के प्रशिष्य एवं विद्यानन्दि भट्टारक के शिष्य थे। इनकी अबतक ३६ रचनाएँ उपलब्ध है, जिनमें आठ टीका ग्रन्थ हैं, शेप स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

(१) यशस्तिलक चन्द्रिका (२) तत्त्वार्थवृत्ति (३) तत्त्वत्रयप्रकाशिका (४) जिन-सहस्रनामटीका (५) महाभिषेक टीका, (६) षट्पाहुड टीका, (७) सिद्धभक्ति टीका (८) सिद्धचक्राष्टक टीका, (९) ज्येष्ठ जिनवर कथा, (१०) रविव्रत कथा, (११) सप्तपरम-स्थान कथा, (१२) मुकुट सप्तमी कथा (१३) अक्षयनिधि कथा, (१४) षोड़शकारण कथा, (१५) मेघमालाव्रत कथा, (१६) चन्दनषष्ठी कथा, (१७) लब्धिविधान कथा, (१८) पुरन्दर विधान कथा, (१९) दशलाक्षिणीव्रत कथा, (२०) पुष्पाञ्जलिव्रत कथा, (२१) आकाश पञ्चमी कथा, (२२) मुक्तावलिव्रत कथा, (२३) निर्दुःखसप्तमी कथा, (२४) सुगन्ध दशमी कथा, (२५) श्रवणद्वादशी कथा, (२६) रत्नत्रयव्रत कथा, (२७) अनन्तव्रत कथा, (२८) अशोकरोहिणी कथा, (२९) तपोलक्षणपंक्ति कथा, (३०) मेरुपंक्ति कथा, (३१) विमान-पंक्ति कथा, (३२) पल्यविधान कथा, (३३) श्रीपालचरित, (३४) यशोधर चरित, (३५) प्राकृतव्याकरण (औदार्य चिन्तामणि नामक स्वोपज्ञ वृत्तियुक्त) और (३६) श्रुत-स्कन्ध पूजा।

इनका समय सोलहवीं शताब्दी का प्रथम-द्वितीय चरण है। इनके ग्रन्थों की प्रशस्तियों में ऐतिहासिक सामग्री विपुल परिमाण में उपलब्ध है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सूत्रों में लिखा गया है। सूत्रों पर स्वयं ही आचार्य श्रुतसागर ने वृत्ति भी लिखी है। विषय की दृष्टि से यह ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के समान ही है। उदाहरणों में कुछ उदाहरण अवश्य इस प्रकार के है, जो हेम व्याकरण में नहीं आये है। अनुशासन करने वाले सूत्रों पर हेमचन्द्र का प्रभाव अवश्य है, यद्यपि सूत्र हेम की नकल नहीं किये गये है। इन्होंने वर्णविकारों को अपने ढंग से उपस्थित किया है। ध्वनि परिवर्तन के नियमों को आचार्य हेम और वररुचि के समान ही प्रस्तुत करने पर भी उदाहरणों को सजाने में इनकी अपनी निजी विशेषता है।

प्रथम अध्याय में २४४ सूत्र है। ह्रस्व-दीर्घ व्यवस्था एवं सन्धिव्यवस्था के अनन्तर स्वर और व्यञ्जनों के सामान्य विकारों का निर्देश किया गया है। श्रुतसागर ने तद्भव शब्दों को संस्कृत से निष्पन्न बतलाया है और तत्सम सब्दो की सिद्धि की ओर संस्कृत के समान ही लिखकर संकेत कर दिया है। देशज शब्दों को मूल प्राकृत का घोषित किया है तथा इन शब्दों को आदिमभाषा का रूप माना है। जिस प्राकृत का साहित्य में व्यवहार किया गया है, जो साहित्यिक प्राकृत कहलाती है, वह संस्कृत शब्दों की विकृति से ही उत्पन्न हुई है। यद्यपि इसमे देशज शब्द भी निहित हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है।

प्राकृत के आर्ष और अनार्ष दो भेद किये हैं और दोनों ही भेदों में समस्त अनुशासनों को बहुल कहा है। प्राकृत वर्णसमाम्नाय में ऋ ॠ लृ ॡ ऐ औ ङ ञ श ष प्लुत, और विसर्ग नहीं है। इनके मत में चतुर्थी विभक्ति का बहुवचन रूप अलग नहीं होता, यह षष्ठी के समान ही होता है। पर चतुर्थी के एकवचन में षष्ठी के एकवचन की अपेक्षा भिन्न रूप भी बनता है। अतएव चतुर्थी और षष्ठी को एक नहीं माना है। सूत्रों का क्रम निम्न प्रकार है—

गुरुलघुपरस्परं समासे १— समासे परस्परमन्योन्यं स्वराणां दीर्घह्रस्वौ बहुलं स्यातास्‌। यथा—अन्तर्वेदिः > अन्तावेई, सप्तविंशतिः > सत्तावीसा। अप्रवत्तोज्जवइ अणा विकल्पे—वारीमई, वारिमई < वारिमतिः; भुजयन्त्रं > भुआयंतं, भुअयंतं; पतिगृहं > पईहरं, पइहरं, गौरीगृहं > गोरिहरं, गोरीहरं।

दीर्घ का ह्रस्व विधान करने के लिए—

नितम्बशिलास्खलितवीचिमालस्य > णिअम्बसिलाखलिअवीइमालस्स; जउँणा-यडं, जउँण-यडं, णइसोत्तं-णईसोत्तं, बहुवत्तं-बहूवत्तं ॥१॥

सन्धिर्वा २— द्वयोः पदयोरुक्तः सन्धिर्वा भवति।

देवइसी, देवेसी; तिव्व आयवो, तिव्वायवो; दहि-ईसरो, दहीसरो; साउ-उअयं, साऊअयं; द्वयोरिति किम्—

पाओ, पई, वच्छाओ, मुद्धाइ, मुद्धाए, महइ, महए।

बाहुल्यादेकत्रापि—काहिइ, काही < करिष्यति, बिइओ, बीओ < द्वितीयः ।।२।।

नास्वे युवर्णस्य ३— इवर्णस्य उवर्णस्य सन्धिर्न भवति। स्वे भवत्येव—वंदामि उसहम्मि संसारसायरतीरे।

उपर्युक्त सूत्रों के अवलोकन से स्पष्ट अवगत होता है कि आचार्य श्रुतसागर के सूत्र बहुत ही सरल एवं अर्थ पूर्ण है। अनुशासन को केवल सूत्र से ही समझा जा सकता है। वृत्ति और उदाहरणों से सूत्र का अर्थ तो स्पष्ट हुआ ही है, साथ ही वृत्ति में सूत्रों के पदों की सार्थकता भी उदाहरण पूर्वक स्पष्ट की गयी है।

प्रथम अध्याय में सन्धि, दीर्घ-ह्रस्व व्यवस्था, अन्त्यव्यञ्जनलोप, अन्त्यव्यञ्जन का आत्व, अत्, स और ह; अनुस्वार आगम, अनुस्वार लोप, लिङ्गानुशासन, विशेष-विशेष शब्दों में स्वर परिवर्तन के नियमों का निरूपण, वक्रादि, समृद्धादि, स्वप्नादि, कृपादि प्रभृति गणों के शब्दों का अनुशासन, ऋकार, इ, ऐ, अ एवं औ आदि स्वरोंकी व्यवस्थाएँ; सैन्धव, सैन्य, वदन, चपेट, देवर, केसर, पौर, गौरव, वदन, नवमल्लिका, पूगफल, कुतूहल, उलूखल, मूर्ख, लवण, चतुर्थ प्रभृति शब्दों के विकार और अनुशासन क ग च ज आदि व्यञ्जनों का लोप, यश्रुति, व्यञ्जनों के विकारों का विवेचन एवं विशेष-विशेष शब्दों के विशेष-विशेष रूपान्तरों का निरूपण किया गया है। इस अध्याय में कुल २४४ सूत्र हैं।

द्वितीय अध्याय में संयुक्त व्यञ्जनों के आदेश, संयुक्त व्यञ्जनों में से किसी विशेष व्यञ्जन को लोप करने के निर्देश, विशेष परिस्थितियों में वर्णों के द्वित्व, स्वर व्यत्यय, स्वरभक्ति के नियम, वर्णव्यत्यय, शब्दों के आदेश, अव्ययों के निर्देश एवं तद्धित प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। तद्धित प्रत्यय हेम की अपेक्षा विस्तृत रूप में वर्णित हैं। स्वार्थिक प्रत्ययों का निरूपण करते हुए बताया है—

डिल्लडुल्लो स्वार्थे चापि—१२९—२—असोयपल्लाविल्लेण, असोयपल्लवेण, पुसिल्लो, पुसल्लो।

कः स्वार्थिक प्रत्ययश्च भवति—१६०—२ - बहुलं। पैशाच्यामपि।

कः स्वार्थिको भवत्येव—यथा—वदनके, वतनके, मदनको, मतनको, समप्पेदूण, समप्पेत्तन। २-१६०।

उपरिशब्दा संख्याने—२-१६२—संख्यानेऽर्थे उपरिशब्दात् संयुक्त ल्लो भवति स्वार्थे। संध्यानं उत्तरीयं, उपरिवस्त्रं तस्मिन्नर्थे पवरिल्लं उपरितनं वस्त्रमित्यर्थे। २—१६२॥

आतिशायिकादातिशयिकः—अतिशयार्थे भवः—आतिशयिकः तस्मादातिशायिकरावभवति—ज्येष्ठतरः जेट्ठयरो, कनिष्ठतरः कणिट्ठयरो। संस्कृतवदेव, सूत्रं तु वास्तवबोधनार्थम्।

अव्यय और निपात भी विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। यह पाण्डुलिपि केवल दो अध्याय मात्र है; अतः इसके दो अध्यय और कहीं होने चाहिए। अधूरी प्रति होने पर भी प्राकृत के जिज्ञासुओं के लिये यह उपयोगी है। प्राकृत भाषा के ध्वनिपरिवर्तन और वर्णपरिवर्तन को इन दोनों अध्यायों से भली भाँति जाना जा सकता है।

—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

पालि त्रिपिटक में शाहाबाद

श्रीयुत् डॉ० महेश तिवारी, शास्त्री, ए., ए., पी-एच. डी.

शाहाबाद विहार राज्य का एक प्रमुख मण्डल है। यह पटना एवं गया मण्डलों से पश्चिम तथा गाजीपुर एवं बनारस मण्डलों के पूर्व में है। इसके उत्तर में सारन तथा बलिया है और दक्षिण मे गया एवं पलामू के कुछ भाग पड़ते हैं। इसकी चारों दिशाओं की सीमाएँ प्राकृतिक साधनों से निर्धारित है। पूर्व में सोन नद. पश्चिम में कर्मनाशा, उत्तर में गंगा नदी तथा दक्षिण में कैमूर-रोहतास की पहाड़ियाँ हैं। शाहाबाद का मुख्य कार्यालय आरा है। इस आरा नगर के नाम पर बहुत लोग इसे आरा जिला कह कर पुकारते हैं।

शाहाबाद मण्डल का इतिहास बहुत पुराना है। रामायण से प्रकट होता है कि रामायण काल से पूर्व में यह कारूष देश के नाम से विख्यात था[१]। इसके दक्षिणी भाग का नाम मलद था[२]। वैवस्वत मनु के छट्ठे पुत्र करूष ने इस देश की स्थापना की थी[३]। कारूष देश की भूमि बहुत पवित्र समझी जाती थी। जब इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया तो ऋषियों ने उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगाया। इस पाप के कारण वे मल एवं क्षुधा से युक्त हो गये। पुनः ऋषियों ने उन्हें कारूष क्षेत्र मे स्नान कराया और वे उक्त पाप से मुक्त हो गये। शुद्ध हो इन्द्र ने इस देश को सदा धनधान्य से समृद्ध बने रहने का वरदान दिया। तब से यह देश बहुत दिनों तक समृद्ध बना रहा[४]।

---

१ मलदाश्च करूशाश्च देवनिर्माणनिर्मितौ ।१८।
  एतौ जनपदौ स्फीतौ पूर्वमास्तां नरोत्तम ॥१॥

बा० का० अध्याय २४।

Cunnigham's Ancient Geography of India, P 716

2. The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaval India— Dey P. 257.

३ महाभारत आदि प० ७५. १६।

Sanskrit-English Dictionary—Sir M M Williams, P. 255.

४ क्षुधा चैव सहस्राक्षं ब्रह्महत्या समाविशत्।
समिन्द्रं मलिनं देवा ऋषयश्च तपोधना ॥१९॥
कलशै स्नापयामासुर्मलं चास्य प्रमोचयन् ,..... ॥२०॥

\+ \+ \+

निर्मलो निष्करूषश्च शुद्ध इन्द्र यथाभवत् ॥२१॥
ततो देशस्य सुप्रीतो वरं प्रादादनुत्तमम्।
इमौ जनपदौ स्फीतौ ख्यातिं लोके गमिष्यत ॥२२॥

रामा० बा० का० २४. १९-२२

कारूष देश का क्षेत्र संभवतः सोन तथा कर्मनाशा के बीच था। उत्तर में यह गंगा नदी तक सीमित था[१]। रामायण काल में ताड़का तथा उसके वंशज राक्षसों का उत्पात यहाँ बहुत बढ़ गया था। फलतः यहाँ की अधिकांश प्रजा या तो उन राक्षसों का ग्रास बनी या दूसरे देशों में जा बसी। इस देश का एक बड़ा भूभाग उजाड़ हो गया जो कालान्तर में भयंकर जंगल के रूप में परिणत हो गया। विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम ने इस जंगल को देखा था, जो उनके शब्दों में वह जन विहीन, हिंसक पशुओं से सेवित एवं भीषण भय उत्पादक था[२]।

महाभारत काल में कारूष देश का क्षेत्र कुछ विस्तृत दीख पड़ता है। संभवतः राक्षसों के उत्पात से कुछ राजकुमारों ने विभिन्न दिशाओं में बढ़कर राज्य का विस्तार किया। इनका राज्य काशी तथा वत्स के दक्षिण तक, चेदि के पश्चिम तक मगध के पूर्व तथा रेवा की पहाड़ियों तक फैल चुका था[३]। इसके इस विस्तृत रूप को देख कर कुछ विद्वानों ने कारूष नामक दो देशों के होने की कल्पना की है। इनमें एक पूर्व तथा दूसरा पश्चिम में बतलाया जाता है[४]। महाभारत मे कारूष देश के राजाओं एवं योद्धाओं की चर्चा कई जगह प्राप्त है[५]। यहाँ का एक राजा द्रौपदी के स्वयंवर के समय भी उपस्थित था[६]। महाभारत युद्ध मे भी यहाँ के वीरों की शूरता की कथा देखी जाती है[७]। ब्रह्माण्डपुराण मे भी इस देश का उल्लेख किया गया है। वर्तमान बक्सर उस समय वेदगर्भपुरी के नाम से विख्यात था[८]। इसका दूसरा नाम पुण्ड्र भी बतलाया गया है[९]।

२ रामा बा २४.१२–१७– वर्नमिदं दुर्गं झिल्लिकागणसंयुतम् ।* सिंहव्याघ्रवराहैश्च वारणैश्च पि शोभितम्—किन्विदं दारुणं वनम्।

3 Ancient Geog P 716

4 Geographical Dictionary, P 95
J. A S B, 1885, P 255
J R. A S, 1914, P 271
Panini—4 1 178

५ भीष्म प ६, ५६, द्रोण प. ११, सभा प. १३, हरिवंश. अध्याय १०६.

६ आदि प. १८५, १६,

७ भीष्म प ५६

८ पूर्व खण्ड, अध्याय ५।

९ भागवत पुराण १०, ६६।
Geog Dictionary P 95.

शाहाबाद मण्डल के कारूष देश होने का प्रमाण एक जैन-अभिलेख से भी प्राप्त होता है। यह आराम नगर (आरा) के जैन उपासकों के द्वारा स्थानीय मसाढ़ स्थित जैन मन्दिर में भगवान् पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्रदान करने के उपलक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है[१]। इससे दो बातों पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम यह कि शाहाबाद का नाम कारूष देश था तथा आरा का आराम नगर।

एक दूसरी परम्परा के अनुसार आरा नगर का तादात्म्यीकरण महाभारत के एकचक्र नामक नगर से किया जाता है। गुप्तवास के समय पाण्डवों ने एकचक्र के एक ब्राह्मण के घर वास किया था[२]। यहीं रहकर भीम ने बकासुर का वध किया था। बकासुर का निवास स्थान आरा से डेढ़ मील पश्चिम स्थित बकरी (पकरी) ग्राम बतलाया जाता है। एकचक्र तथा बकरी ग्राम के लोगों के लिये बकासुर भयानक विपदा के रूप में था। भीम ने उसका वध कर जिस दिन उसके मृतक शरीर को खींच कर वह एकचक्र नगर के द्वार पर लाया उस दिन मंगलवार (आर) पड़ता था। उस मुक्ति दिवस के उपलक्ष्य में नगरवासियों ने एकचक्र का नाम आरा रख दिया। जेनरल कनिंघम ने इस जनश्रुति को ईस्वी सन के पूर्व का बतलाया है[३]। उनके अनुसार यह व्युत्पत्ति क्रम स्वाभाविक प्रतीत होता है। आरा के नामकरण के सम्बन्ध में अन्य कई जनश्रुतियां भी प्रचलित हैं[४]।

संवत् १८७६ वैशाष शुक्ले ६ शुक्रे मूलसंघे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक विश्वविभूषणजी भट्टारक श्रीजिनेन्द्रभूषणजी भट्टारक महेन्द्रभूषणजी तदाम्नाये अग्रोतकान्वये कांसिलगोत्रे श्री साहजी दषनाक्रसिंहस्य पुत्र श्री बाबू शकरलालजी तस्यपुत्राश्चत्वारः बाबू श्रीरतनचन्दजी श्रीबाबू कीरतिचन्दजी श्री बाबू गुलाबचन्दजी श्रीबाबू प्यारेलाल आरामनगरवासिभिः मसाढ़नगरे जिनमंदिरबिबप्रतिमाकारी······ अंगरेज राज्ये वर्त्तमाने कारूषदेशे श्री।

Plate XXIV
A S I R Vol III

२ एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेसने॥

आदि प० १५६, २

C A S R III Pto 71—74

३ C A S R Vol, III Pp 71—79.

आर पुं० (आङ्+ऋ+कर्त्तरी संज्ञायां घञ्)
मङ्गलग्रहः। शब्दकल्पद्रुम १ १८७

[आरोऽस्ति यस्याः नगर्याः नवजीवनप्रापको दिवसः सा आरा नगरी। अर्श आदिभ्योऽच् ।।५।२ १२७। नगरीविशेषणत्वात् टाप् इति आरा]

4 C A S. R Vol III Pp 7179
क—आरामनगर > आरानगर > आरा।

पालि त्रिपिटक में शाहाबाद मण्डल का नाम आलवी मिलता है[1]। यह एक छोटा राज्य था, जो संभवतः मगध और काशी के बीच स्थित था। कर्न ने इसे मगध और कोशल के बीच बतलाया है[2]। इसकी राजधानी आलवी थी। यह नगर गंगा नदी के तीर पर स्थित था[3]। संभवतः गंगा की धारा इस समय आज की अपेक्षा कुछ दक्षिण हट कर बहती थी। आलवी के नागरिक आलवक कहलाते थे[4]।

भगवान् बुद्ध को आलवी बहुत प्रिय थी। वे अपनी चारिका क्रम में श्रावस्ती से राजगृह तथा राजगृह से श्रावस्ती जाते समय आलवी में विश्राम करते थे। यह नगर श्रावस्ती से तीस योजन तथा काशी से सोलह योजन पूर्व में था। यहाँपर 'अग्गलाव चैत्य' नामक एक विशाल बौद्ध विहार था। भगवान् बुद्ध इसी विहार में ठहरा करते थे। भगवान् बुद्ध का सोलहवाँ वर्षावास आलवी के इसी चैत्य में हुआ था। यहाँ रह कर उन्होंने चौरासी हजार श्रोताओं को धर्मोपदेश दिया था। कहा जाता है कि उन सबों ने त्रिशरण ग्रहण किया[5]।

भगवान् बुद्ध के जीवन से आलवी का सम्बन्ध चिरस्मरणीय है। यहीं पर उन्होंने आलवक यक्ष को बौद्ध शासन में दीक्षित किया था। कहा जाता है कि आलवी नगर से कुछ ही दूर पर (संभवतः पश्चिम) एक घना जंगल था। यह भूभाग उस समय उस राजा के अधिक नियन्त्रण में नहीं था। यहां यक्ष जाति के कुछ लोग रहा करते

ख—एक दानी राजा (सम्भवतः मोरध्वज), उनके सिर का आरा से चीरे जाने की कथा—उससे आरा।

ग—हरिगृह > आरा।

घ—आरा-द्रश > आरा।

ङ—Dr Hoey, however, Supposes that the ancient name of Arrah, was Arada, and Arada kalama, the teacher at the Buddha was a native of this place J A S B Vol LXIX P 77. also quoted in Geog Dictionary—Dey, P 10,

१ सुत्त निपात, १ १०
पाराजिक—पृ० ६६, १०१, १०७, २१५-१६, ३२१
संयुत्तनिकाय, पृ० १२८, १८५-८७, २१५
अंगुत्तरनिकाय, पृ० १२६,
Dictionary of Pali Proper names Pp 290 295, 1128 Geog Dictionary, p, 3

2 Manual of Indian Buddhism P 37

3 Psalms of Brethren P 408

4 Dictionary pali proper names p 295

5 Ibid P 295, The Vedantic Buddhism of the Buddha P 166, J A S B P 720 Watters T 11 61, Fa Hsein 60, 62, Ancient Geog P 504 Manual of Buddhism-Hardy, Pope 330

थे, जो वीर तथा परुष स्वभाव के बतलाये जाते हैं। इनका नेता आलवक यक्ष था। आलवक यक्ष के पराक्रम के सम्बन्ध में बड़ी रोचक कथाएँ मिलती हैं। वह आकाश पथ से गमन करता था। हिमालय की मनोशिला एवं कैलाश पर्वत की चोटियों पर एक-एक पैर रख कर जब वह सिंहनाद करता था तब सारा जम्बूद्वीप थर्रा उठता था। उसके सामने जाते ही मनुष्य गल-से जाते थे। उसके पास ऐसे-ऐसे अस्त्र-शस्त्रों की चर्चा आती है, जिनसे वह सागर को सुखा सकता था, बरसते मेघ को रोक सकता था, भयंकर अग्निज्वाला उत्पन्न कर सकता था तथा सुमेरु पर्वत को धूल में मिला सकता था। उसके पास आश्चर्य जनक मन्त्र बल भी था। उसकी बढ़ी हुई शक्ति के कारण वहाँ का राजा प्रतिज्ञाबद्ध हो प्रतिदिन एक मनुष्य उसके पास भेजा करता था, जो उसका दास हो कभी घर नहीं लौटता था[१]। इस क्रम में राजा को अपने पुत्र आलवक कुमार को भी भेजने की बारी आयी थी। भगवान् बुद्ध ने तत्संबंधी सारी बातें सुन रखी थीं। वे चारिका करते हुए यक्ष के प्रासाद में पहुँचे तथा उसे अनुपस्थित जान उसके सिंहासन पर जा बैठे। लौटने पर यक्ष ने उन्हें उस रूप में बैठे देख बहुत क्रुद्ध हो ललकारा। उन्हें च्युत करने के लिये अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया, पर उसके सारे प्रयत्न निष्फल रहे तदनन्तर यह जान कि वे महात्मा हैं, उसने उनके सामने आठ आध्यात्मिक प्रश्नों को रखा। साथ ही उसने यह भी बतलाया कि यदि वे उसका उत्तर न देंगे तो वह उनके पैरों को पकड़ कर गंगा के उस पार फेंक देगा[२]। भगवान् बुद्ध ने बहुत शांत ढंग से उसके सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। कहा जाता है कि उनके उपदेशों को सुनते ही उसके पूर्व संस्कार जग उठे तथा उसने उनसे दीक्षित हो त्रिशरण ग्रहण की[३]।

यक्ष की दीक्षा के बाद बुद्ध वहीं रह रहे थे। दूसरे दिन राजा द्वारा यक्ष के लिये भेजा गया उनका पुत्र आलवक कुमार पहुँचा। यक्ष को अपने पूर्व कृत्यों पर बड़ी लज्जा हुई। उसने सब को अभय दान देते हुए आलवक कुमार को भगवान् के हाथ

१. उसे मनुष्य भक्षक भी कहा गया है। अट्ठकथा से प्रकट है कि काश्यप बुद्ध के समय से वह बौद्ध शासन में प्रविष्ठ था पर उन मन्त्रों को भूल जाने के कारण वह उद्दण्ड हो गया था। इतने दिनों के प्रबल संस्कार वाला वह सम्भवतः मनुष्यभक्षी नहीं था। गए हुए मनुष्यों के नहीं लौटने के कारण लोग, उसे नरभक्षी कहा करते थे। हे नसांग ने उसे "डेमन ऑव डेजर्ट्स" बतलाया है।

२—पञ्हं तं, समण, पुच्छिस्सामि। स चे मे न व्याकरिस्ससि,
चित्तं वा ते खिपिस्सामि, हदयं वा ते फालेस्सामि,
पादेसु वा गहेत्वा पारगङ्गाय खिपिस्सामि।
सु० नि० १०.

३—सुत्तनिपात अट्ठकथा १, २२०.
संयुत्तनिकाय अट्ठकथा १, २१७-४०.
अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा १, ७११-१२.

सौंप दिया। यक्ष के हाथ से बुद्ध के हाथ में जाने के कारण राजकुमार का नाम हत्थक पड़ा। तदनन्तर भगवान् से दीक्षित हो हत्थक स्थविर एक अपूर्व प्रतिभावान भिक्षु बना[1]।

इस प्रसंग में यक्ष शब्द विचारणीय है। कुछ विद्वानो ने इस कथा के आधार पर यह दिखलाने का प्रयास किया है कि आलवी यक्षों का देश था। उनकी यह धारणा परीक्षा से भ्रान्त प्रतीत होती है। पहली बात तो यह है कि किसी देश में एक या कुछ यक्षों के रहने से वह संपूर्ण देश यक्षों का नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि यह यक्ष शब्द यहाँ लाक्षणिक प्रतीत होता है। कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध के अधिकांश उपदेश श्रोताओं के अध्याशय, अनुशय एवं अधिमुक्ति को ध्यान में रख कर दिये गये है। इस दृष्टि से आलवी से सम्बन्ध रहने वाले 'सुत्तो" एवं उनकी "अट्ठकथाओं" को पढ़ने से प्रकट होता है कि आलवी के लोग वीर, स्वतन्त्र विचार वाले तथा निष्ठावान हुआ करत थे। उनके जीवन में कर्मठता का प्रमुख स्थान था। वे तब तक किसी बात को नही स्वीकार करते थे, जब तक उन्हें वह यथार्थ न मालूम हो जाय। जिन बातों को वे यथार्थ समझ लेते थे उनका पालन पूर्ण निष्ठा के साथ करते थे। उन दिनों आलवी में ब्राह्मणधर्म का प्रचार था। ब्राह्मणों के समृद्ध एवं बड़े बड़े गाँवों की चर्चा कई जगह देखी जाती है। इस क्षेत्र में गये भिक्षु भगवान् के उपदेशों को उन्हें सुगमतया समझा नहीं सकते थे। अतः भिक्षुओं को देखकर उनसे वे भय करते थे[2] या उनके साथ सम्यक् व्यवहार नहीं करते थे। संभवतः ऐसी धार्मिक कटुता के कारण बौद्धधर्मावलम्बी उन्हें यक्ष कह कर पुकारते थे। ऐसे उदाहरण धर्म के इतिहास में अनेकों देखे जाते हैं। उनकी निष्ठा का एक उदाहरण इस प्रसंग मे भी मिलता है कि जब भगवान् बुद्ध ने उन्हें अपने सिद्धान्तों का समुचित परिचय कराया तो वे दृढ़ता के साथ तदनुकूल आचरण एवं उनके प्रसार मे लग गये[3]।

आलवी कृषिप्रधान देश था। विनय पिटक से प्रकट होता है कि यहाँ के लोग भिक्षु जीवन धारण करने पर, भी अपने पूर्व अभ्यास के कारण पृथ्वी कर्षण एवं नव

---

१ सु० नि० अ० १, २३६-४।

२ मणिकण्ठजातक. जा. २, २८२-८३.

३ अत्थाय वत मे बुद्धो वासायालविमागमा।
यीहं अज्ज पजानामि यत्थ दिन्नं महप्फलं॥
सो अहं विचरिस्सामि, गामा गामं पुरा पुरं।
नमस्समानो सम्बुद्धं, धम्मस्स च सुधम्मतं॥
सु० नि० भा० १, २६७ सं० नि० १, २१७

कर्म करने मे प्रवृत्त देखे जाते है[1]। उनके ऐसे कार्यों से इस बात का परिचय मिलता है कि वे क्रियाहीन भिक्षु जीवन को उत्तम नहीं समझते थे। उनके अनुसार आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का समन्वय आवश्यक था[2]। उनके ये कार्य बौद्ध शासन के अनुसार उचित नहीं समझे गये। भगवान् बुद्ध ने वहाँ जाकर इसका स्पष्टीकरण करते हुए तत्सम्बन्धी कई नियम बनाये[3]। इसी प्रसंग में उरगसुत्त का उपदेश किया गया[4] है।

आलवी के लोगों की एकनिष्ठा से बुद्ध बड़े प्रसन्न थे। धम्मपद अट्ठकथा से प्रकट है कि वे एक भोले किसान को उपदेश देने के लिये श्रावस्ती से आलवी आये थे[5]। ऐसी ही कथा एक बुनकर की श्रद्धालु कन्या के सम्बन्ध में प्राप्त होती है[6]।

आलवी के लोग आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ऊँचे उठे हुए तथा प्रबल संस्कार वाले देखे जाते है। हत्थक, स्थविर तथा सेला भिक्षुणी के उदाहरण इसके परिचायक हैं। आलवक यक्ष के आठ प्रश्न[7], सेला मारसंवाद[8] तथा हत्थक स्थविर[9] की अनुभूतियाँ आदि[10] मुमुक्षुओं के लिए अमूल्य निधियों के रूप में है।

आलवी के बुद्ध जीवन से सम्बन्धित स्थलो मे सिसपावन[11] तथा महासाल[12] ब्राह्मण ग्राम की चर्चा उल्लेखनीय है। सिंसपा वन का तादात्म्यी करण अभी समुचित ढंग से नहीं हो पाया है। संभवतः यह शाहाबाद के पश्चिमी भाग में कहीं रहा होगा। महासाल ब्राह्मण ग्राम का तादात्म्यीकरण वर्तमान मसाढ़ नामक ग्राम से किया गया है[13]। विनयपिटक के अनुसार यह मज्झिम देश की पूर्वी सीमा पर स्थित था[14]। वर्तमान मसाढ़ (मसार) आरा से ६ मील पश्चिम है। यहाँ से प्राप्त एक आधुनिक

---

१ परिवार. पृ. २४
२ वही, पृ. १०, १८, २६, ८५, २५६
३ पाराजिव—पृ. ६६, १००, १०७, २१६, ३२१.
४ सुत्तनिपात अट्ठकथा १. ४–५
५ धम्मपद अट्ठकथा ३.२६२–६३
६ वही ३. १७०.
७ सुत्तनिपात १०. सं. नि.
८ सं. नि. पृ. १२४
९ अं. नि. पृ. १२६–२७
१० सं. नि. १. १८५ वंगीस सुत्त
११ अं. नि. १. ३ ४. ४ १२६.
१२ वि. पि. १. २९६.
13 Ancient Geog p 504.
Ibid—Identification by M Vivient de Saint-Martin C. A S R Vol III pp. 66-71.
१४ वि. पि. १ २९६.

अभिलेख से भी इसके निर्धारण मे काफी सहायता मिली है। ह्वेनसांग की यात्रा से प्रकट होता है कि वह वाराणसी से पचास मील पूर्व चल कर गाजीपुर (चेन्चु) पहुँचा। पुनः वहाँ से तेतीस मील पूर्व चल कर अविद्धकर्ण विहार (बलिया) पहुँचा। इस स्थान से १६ मील गंगा की ओर चलकर गंगा पार किया। वहाँ से कुछ ही दूर दक्षिण की ओर चल कर वह महासाल ग्राम (मो० हो० सो० लो०) पहुँचा[१]। इस विवरण से भी वर्तमान मसाढ के महासाल ब्राह्मण ग्राम होने की पुष्टि होती है।

ह्वेनसांग ने इस ग्राम के निकट एक विहार देखा था, जहाँ बौद्ध भिक्षु तथा कुछ अन्य साधु रहते थे। यह विहार संभवतः वह होगा जिसे अशोक ने भगवान् बुद्ध द्वारा आलवक यक्ष के दमन किये गये स्थान पर बनवाया था। फाहियान ने भी वाराणसी से बारह योजन पूर्व कौन्ग्ये नामक विहार की चर्चा की है। उसका यह उल्लेख ह्वेनसांग द्वारा दृष्ट विहार का परिचायक है[२]। बुचनन ने अपने शोधक्रम में यहाँ कुछ प्राचीन नष्ट गृहों के अवशेष तथा मूर्त्तियाँ प्राप्त की थीं[३]। इससे भी इस स्थान की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

फाहियान तद्देशीय वर्णन उपस्थित करते हुए अन्त में कुम्भथूप का उल्लेख करता है[४]। बुद्धवंश से प्रकट होता है कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद कई स्थानों के व्यक्तियों ने उनके अवशेष का विभाजन कर उस पर स्तूप बनवाया[५]। कनिंघम के अनुसार जिस ब्राह्मण ने धातु विभाजन किया था, उसीने उस कुम्भ में अवशेष रखकर उसके ऊपर स्तूप बनवाया, जिसे वह अन्न मापने (द्रोण) के लिए प्रयोग में लाता था[६]। इस दृष्टि से इसे कुंभस्तूप या द्रोण स्तूप कहते है।

अब यहाँ इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि शाहाबाद जो रामायण काल के पूर्व, रामायणकाल में, तथा महाभारत काल में कारूष देश कहलाता था, वह बुद्ध काल में आलवी कैसे बन गया। इसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि पालि त्रिपिटक का जो विवरण है, वह भिक्षुओं द्वारा प्राप्त एवं संकलित है। पूर्व

---

1 On Yuan chwangs Travels in India—Watters pp 61-62.
बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, भरत सिंह पृ. ८१-८२

2 Ibid—Fc-kuo chi—Chap 34.

3 Eastern India 1 143.

4 Shih-Sung-Lu, Chap. 60.
Life of the Buddha—Rockhill p. 146.

५ कुम्भस्स थूपं कारेसि. ब्राह्मणो दोणसव्हयो।
बु. वं. २८.

6 C. A. S. R. Vol. III, p. 72.

में देखा जा चुका है कि रामायण काल मे कारूष देश का अधिकांश भाग जंगल के रूप में परिणत हो चुका था। महाभारत काल में भी यहाँ जंगल होने की चर्चा मिलती है। बौद्धधर्म वैराग्यपरक होने के कारण भिक्षुओं के लिए एकान्त स्थान, अरण्य, पर्वत, गुहा आदि में रहने का विधान करता है। आलवी के प्रविवेकरत भिक्षुओं ने उसे अरण्य प्रधान देश समझते हुए उसका नाम ही आरवी (अरवी) कर दिया। यह आलवी शब्द जंगल का द्योतक है।

तब आरा शब्द की व्युत्पत्ति क्या हो सकती है? इस सम्बन्ध मे तीन शब्दों पर विचार करना है। वे हैं—आर, आलवी तथा आराम नगर।

जेनरल कनिंघम के अनुसार 'आर' शब्द से आरा की व्युत्पत्ति एक महत्त्वपूर्ण घटना के उपलक्ष में बतलायी जाती है[1]। यह मान्यता भी आकस्मिक कह ठुकरायी नही जा सकती है। एकचक्र तथा बकरी के जनजीवन में बकासुर के वध का महत्वपूर्ण स्थान था। ऐसे जीवन प्रापक घटना-दिवस के स्मरणार्थ एकचक्र ग्राम के नाम का आरा में परिवर्तन स्वाभाविक कहा जा सकता है। जनश्रुति भी इसके पक्ष में सबल है।

दूसरा शब्द आलवी है। इस से आरा की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतायी जा सकती है। आलवी का ल मूर्द्धण्य ळ है। 'ल' या 'ळ' का 'र' में परिवर्तित होने के उदाहरण प्राकृत भाषाओं मे बहुत मिलते हैं। लाजा > राजा, चत्तालीस > चत्तारीस, पुलिस > पुरिस आदि शब्दों मे 'ल' एवं 'र' परिवर्त्तन स्पष्ट रूप से देखा जाता है। इस दृष्टि से आलवी से पहले आरवी बना होगा। पुनः प्रयत्न लाघव के कारण 'वी' का लोप तथा अन्त्य स्वर का दीर्घ हो गया होगा। ऐसा होने से यह शब्द आरा के रूप मे बच गया होगा। पर इस व्युत्पत्ति क्रम मे भाषाविज्ञान के नियमों का दृढ़ समर्थन नहीं प्राप्त होता है तथा कल्पना भी यह कुछ क्लिष्ट प्रतीत होती है।

इसका दूसरा क्रम यह हो सकता है कि बौद्ध परम्परा मे एक ही शब्द अपने पर्याय से भी घोषित किये जाते है। यथा पंक्ति भाषा, तन्ति भाषा, पालि भाषा। इस क्रम से आलवी के लिए अटवी या अरण्य शब्द का प्रयोग होता होगा। पुनः अरण्य शब्द से आरा की व्युत्पत्ति कही जा सकती है[२]।

तीसरा शब्द आराम नगर है। यह जैन परम्परा मे भी प्राप्त है। बौद्ध परम्परा के अनुसार आराम शब्द "चैत्य" "विहार" आदि का द्योतक है। पूर्व में देखा

1 C A S R Vol III pp 71 79

२ यथा इसी क्रम के अनुसार जेठिवन की व्युत्पत्ति लट्ठिवन से न होकर उसके पर्याय यट्ठिवन से देखी जाती है। यह स्थान राजगृह के निकट है।

जा चुका है कि आलवी में अग्गलाव चैत्य नामक विहार था। उसके पास ही अशोक ने भी एक विहार बनाया था। इससे प्रकट होता है कि बौद्धों ने उक्त स्थान को और महत्वपूर्ण दर्शाने के लिये "आरा" शब्द की पृष्ठभूमि को बनाये हुए इसका नामकरण विहारों का नगर अर्थात् आराम नगर कर दिया तब से इस नगर के लिए आरा तथा आराम नगर दोनों शब्द चलते रहे। पुनः आगे चलकर ब्राह्मण धर्मावलम्बियों को बौद्धों से सीधा विरोध प्रारम्भ हुआ। एतदर्थ ब्राह्मण परम्परा ने आराम नगर शब्द का बहिष्कार करना प्रारम्भ किया। इस परम्परा में प्राचीन आरा शब्द दृढ हो चला। आराम नगर शब्द यत्र तत्र अभिलेखों तक सीमित रहा। इस क्रम से भीम द्वारा बकासुर के बध तथा उसके मृतक शरीर को एकचक्र नगर द्वार पर लाने के दिवस के उपलक्ष में उस ग्राम के नाम का एकचक्र से आरा में परिवर्तन होने की जनश्रुति सबल प्रतीत होती है।

जैन-सिद्धान्त-भवन में उपलब्ध

महाकवि—

रइधू की कुछ महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ

प्रो० राजाराम जैन, एम० ए०, आरा

आरा का जैन-सिद्धान्त-भवन भारत के प्राचीन ग्रंथागारों में अपना अद्वितीय स्थान रखता है। यहाँ के सुरम्य एवं शान्त वातावरण में रहकर सहस्रों देशी-विदेशी विद्वानों ने इसके संग्रहीत बहुमूल्य ग्रन्थों का उपयोग कर शिक्षाजगत को ज्ञान-विज्ञान के कई मौलिक तथ्यों से अवगत कराया है। यहाँ के विभिन्न भाषाओं में निबद्ध विविध विषयक ग्रन्थों को देखकर उसके संस्थापकों, संचालकों तथा प्रबन्धकर्त्ताओं की साहित्यरसिकता, कलामर्मज्ञता, उदारता एवं हृदय की विशालता का स्पष्ट परिचय मिलता है। शोध-प्रबन्ध का विद्यार्थी होने के नाते अपभ्रंश के कुछ हस्तलिखित ग्रंथों की खोज में मैंने अनेकों प्राचीन शास्त्र-भण्डारों की तीर्थयात्राए की थीं किन्तु घोर प्रयत्नों के बाद भी मुझे निराशा ही हाथ लगी। अन्त में मुझे वे ही इच्छित ग्रन्थ उक्त ग्रन्थागार में इतनी सरलता एवं अन्य कई सुविधाओं के साथ उपलब्ध हो गये जिसकी कि मैंने कभी कल्पना भी न की थी। इन ग्रन्थों के आधार पर मैं काफी निश्चिन्तता-पूर्वक अपना कार्य कर सका हूँ। उपलब्ध इन्हीं ग्रन्थों का परिचय यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है:—

हरिवंशपुराण

प्रस्तुत "हरिवंशपुराण" हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में २०२ पृष्ठों में है। इसकी एक पुष्पिका के अनुसार जैन-सिद्धान्त-भवन ने इसकी प्रतिलिपि सरस्वती भवन इन्दौर की एक प्रति के आधार पर तैयार कराई थी। इसी पुष्पिका से यह भी ज्ञात होता है कि इन्दौर की वह प्रति रोहतक में उपलब्ध किसी ऐसी प्रति के माध्यम से तैयार कराई गई थी जिसकी वहाँ के अग्रवाल जाति के गोयल-गोत्रीय श्री भगवतीदास जी दादरी-वाल ने वि० सं० १६५८ की वैशाख सुदी पंचमी रविवार के दिन प्रतिलिपि कराई थी। उस समय वहाँ सम्राट अकबर का राज्य था तथा वह रोहितगढ़ के दुर्ग में निवास कर रहा था। इसी पुष्पिका में उक्त भगवतीदास जी दादरीवाल के परिचय में उनकी

लगभग ६ पीढ़ियों का पूर्ण परिचय भी दिया गया है जो निम्न प्रकार है :—

"अथ संवतसरेस्मिन श्री *नृप विक्रमादित्य* गताब्दः संवत १६५८ वर्षे वैशाख सुदी पंचमी आदित्यवासरे श्री *रुहितगगढ़* दुर्गे श्री *अकबर* पातिसाह राज्य प्रवर्तमाने श्री *काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे* भट्टारक श्री ६ *हेमचन्द्रदेवा* तत्पट्टोदय करेणेक सूर्योदयान् अनेकविद्यासमुद्रान् भट्टारक श्री *पद्मनन्दिदेवः* तत्पट्टे वादीभकुम्भस्थलविदारणैक कण्ठीरवान निजसौम्यत्वेन निर्जितसभासूतमण्डलान द्वाविंशतिपरिषहारातिघातानेक-वीरान पंचमहाव्रतधुराधारणैकधौरयान सर्वोपमायोग्य भट्टारक श्री ६ *यशःकीर्तिदेवः* तत्पट्टे कर्म्मग्रन्थ आगमग्रन्थ विचारकान लब्धप्रतिष्ठान् अष्टमूलगुणप्रतिपालकान् बावीसपरीषहसहसहणशीलान संयमयमस्वाध्याय तत्परान् समुद्रवरु भीरान् स्वदेश प्रदेश विख्यातमानान् अनेकतर्कव्याकरणछन्दलहरीत्रयंगान् भट्टारक श्री ६ *खेमकीर्ति देवः* तृयो (?) शिष्य त्रीनि प्रथम सिद्धान्तजलसमुद्रान् अनेकविद्यासमुद्रान् । पंच महाव्रतधारकान् स्वदेशप्रदेशविख्यातमान् भट्टारक श्री *त्रिभुवनकीर्तिः* द्वितीय पंचमहा-व्रतधारकान् अष्टाविंशति मूलगुणविराजमान द्वाविंशतिपरिषहसहणशीलान् काम-मातंगमृगेन्द्रान् सर्वाङ्गसुन्दरान् सरस्वती कंठाभरान् अनेकविद्यासमुद्रान् आचार्य श्री *सहस्रकीर्तिः* तृतीय पंचाणुव्रतधारकान् एकादशप्रतिमाप्रतिपालकान् अनेकविद्यासमु-द्रान् हीणदीणोद्धारण समर्थान् *ब्रह्मश्रुतसागर* एतेषां गुराम्नाये गोयलगोत्रे *दादरीवाल रुहितग* वास्तव्ये साह *हींगा* तस्य भार्या साध्वी *मोहनही* तयो पुत्र पंच, प्रथम पुत्र साह *लाड*, द्वितीय साह *चोचा*; तृतीय साह *झांझू*; चतुर्थ साह *जेठू*; पंचम साह *हठू*। साह *हींगा*; प्रथम पुत्र *लाडा*, तस्य भार्या साहुणि *तेजाही*, तयो पुत्र साह *गजू*। साह *हींगा*, द्वितीय पुत्र दान दानेश्वर पूजा पुरंदर साह *चोचा*, तस्य भार्या साहुणि *पिउधरही*। तयो पुत्र साह *परगहमल्ल* तयो पुत्र चिरंजीवी *ससदास*। साह *हींगा* तृतीय पुत्र परउपकारी साह *झाझू* तस्य भार्या साहुणी *श्रीचदही*। तयोपुत्र चत्वारि। प्रथम पुत्र साह *वसावन*, द्वितीय *विमलू* . तृतीय साह *आसू*, चतुर्थ साह *धनपाल*। साह *वसावन* तस्यभार्या साहुणि *टोडरही*। तयोपुत्र *भगवानू*, द्वितीय *सहजू*। साह *झाझू* द्वितीय पुत्र आभारमेरु जैनसभाशृंगारहारसाह विमलू तयो पुत्र चिरंजीवी *लालू*। साह *झाझू* तृतीय पुत्र *आसू* तस्य भार्या *ताराचंदही* तयोपुत्र २। प्रथम पुत्र *मामन*, द्वितीय *भुवाल*। साह *झाझू* चतुर्थ पुत्र साह *धनपाल*। साह *हींगा* चतुर्थ पुत्र साह *जेठू*, तस्य भार्या साहुणि *सिघाही* तयो पुत्र चारि। प्रथम पुत्र *मल्लदास*, द्वितीय *गेल्हा*, तृतीय *बेगराज*, चतुर्थ *सभाचद*। साधु जेठू प्रथम पुत्र *मल्लदास* तस्य भार्या *गोराही*। साह जेठू द्वितीय पुत्र *गेल्हा*, तस्य भार्या *जितमल्लही*। तयोः पुत्र ....। साह *हींगा* पंचम पुत्र आभारमेरु जैन-

सभा शृङ्गारहारचतुर्विधदानवितरणैक श्री श्रेयांसावतारान् साह हट्ठ, तस्य भार्या चतुर्विधदानदायकीर्त्ति पंचास क्रियाप्रतिपालकी माध्वी *वीरदासही*, तयोपुत्र त्रीणि। प्रथमपुत्र साह *गुणदास* तस्यभार्या *स्याधीरुको*, तयो पुत्र *हरिवंस*। साह हट्ठ द्वितीय पुत्र दीवान *दीपगु*। जैनसभाशृंगारहारपूजापुरन्दर सर्वाङ्ग सुन्दर चतुर्थ दान वितरैक श्रेयान्सावतारान् साह *भगउतीदास* तस्य भामिनी प्रियछंदानुगामिनी साहुणि *पनौती*। तयोपुत्र द्वि। प्रथम पुत्र *विहारीदास* तस्य भार्या *वेल*। द्वितीय पुत्र *मुरारिदास* तस्य बधू *सुंदरी*। साह हट्ठ तृतीय पुत्र दीवान *दीपगु* जैनसभाशृंगारहार साह *सोरमदास* तस्य भार्या *भामिनी* प्रियछंदानुगामिनी बधू *केसरी*। एतेषां मध्ये साह *हठमल* तस्यपुत्र *भगउतीदास* तेनेदं हरिवंशशास्त्र लिखापितं। ज्ञानावरणी कर्मक्षयनिमित्तं लिखापितं।"

प्रस्तुत रचना के लेखक १५-१६ वीं सदी के महाकवि रइधू[1] हैं, जिन्होंने सन्धिकालीन अपभ्रंश में लगभग २३ विशाल ग्रन्थ लिखे हैं। हरिवंशपुराण की १४ सन्धियों के ३०२ कडवक अथवा लगभग २००० गाथाओं में कवि ने हरिवंशियों का विस्तृत वर्णन किया है। यद्यपि इस रचना का मूल स्रोत जिनसेन कृत हरिवंशपुराण है फिर भी उक्त ग्रन्थ का अन्तरङ्ग-बहिरंग देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने दि० एवं श्वे० परम्परा के प्राकृत-संस्कृत एवं अपभ्रंश के हरिवंश से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः समस्त उपलब्ध साहित्य का गहन अध्ययन किया था।

हरिवंश की रचना अग्रवाल कुलोत्पन्न गोयलगोत्रीय श्री लोणासाहु, जो कि सम्भवतः झुनझुना के निवासी थे, की अत्यन्त विनम्र प्रार्थना पर कवि ने की थी। उक्त आश्रयदाता की ७ पीढ़ियों का सांगोपांग विवरण कवि ने अपनी ग्रन्थ-प्रशस्ति में दिया है। यह वंश बाधू साह (पत्नी सुनयना) से प्रारम्भ होता है। लोणासाहू इस परम्परा की छठवीं पीढ़ी में हुए थे। कवि ने लोणासाहू के कनिष्ठ भ्राता उदयराज के जन्म के समय इस ग्रन्थ को रचा था।

(२) सुकौशल चरित

द्वितीय हस्तलिखित ग्रन्थ का नाम सुकौशल चरित है। इसमें कुल ६० पृष्ठ हैं। इसकी ४ सन्धियों के कुल ७४ कड़वकों अथवा ३०० गाथाओं में सुकौशल-मुनि के चरित का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत रचना की प्रतिलिपि वि० सं० १९८७ के मार्गशीर्ष कृष्ण १४ को दिल्ली के

---

१ महाकवि रइधू के विस्तृत परिचय के लिये "भिक्षुस्मृति ग्रन्थ" (कलकत्ता, १९६१) में प्रकाशित "अपभ्रंश भाषा के सन्धिकालीन महाकवि रइधू" नामक मेरा निबन्ध देखिये। पृ. १०१-११५

खजूर की मस्जिद वाले नये पंचायती मन्दिर में स्थित वि० सं० १६३३ की प्रतिलिपि के आधार पर तैयार कराई गई थी।

आदि एवं अन्त की प्रशस्तियां में कवि ने ग्रंथ रचना का स्थान, समकालीन राजा, पूर्ववर्त्ती एवं समकालीन भट्टारकों आदि के वर्णनों के साथ अपनी पूर्ववर्त्ती रचनाओं के उल्लेख भी किये है। उक्त रचना के प्रेरक एवं आश्रयदाता ग्वालियर निवासी अग्रवाल जाति के श्री रणमल एवं उनकी चार पीढ़ियो तक का परिचय कवि ने निम्न प्रकार दिया है :—

सिरि *अइरवाल* कुल गयण चंद। *संघवीर* बुधजण जणिय णंदु॥
वे पक्खुज्जल सा तणिय भज्ज। *अभणी* नामा वयसील सज्ज॥
तहि उवरिउ वण्णउ णर पहाणु। अहणिसु भाविउ जिं धम्मुझाणु॥
महलगिदिउ णामें साहु धण्णु। णिय जसेण जेण महिवीढछण्णु॥
तहु भज्जा दुछिय जण जणेरि। मह सीलभारवहणेक्कधीर॥
वीरो णामा वर चाय लीण। गइ हंसिणीव सद्देण वीण॥
तहु पुत्तु पढमु जिणपायभत्तु। *आणाहिहाणु* गिह धम्मिरत्तु॥
तहु घरिणि गुणायर सुद्ध सील। जिणधम्म रसायणि जाहि कील॥
वीधो णामा कुलगेह लच्छि। चउविह संघह दाणेण दच्छि॥
छत्ता—तहिउवरिउ वण्णा गुण संपुण्णा पुत्तत्तिण्णिलक्खणाहि जुवा॥
ताहिजिपुणु पढमउ णं मसि पढमउ *पीथा* णामे दाहभुवा॥
(सुकौ० ४।२३)

तासु पिया पिय चित्त सुहायरि। भणिय *कुबेर देवि* णं सुरसरि॥
वीयउ णंदणु पडु जसयरु। णिय कुलकमल वियासणभायरु॥
पल्हणु सीहु वसण मण चत्तउ। जिणचरणारविंदरयरत्तउ॥
कउरपालही तहु भामिणी। णाहहु चित्त णिच्च अणुगामिणी॥
तीयउ सुउ पुणु बहु लक्खणधरु। जो आराहइ अहणिसु जिणवरु॥
देवसत्थु गुरुपायहि लीणउ। कहमवि वयणु ण जंपइ दीणउ॥
रणमलु णासु महिहि विक्खायउ। *जालही* पीययम अणुरायउ॥
ति *सुकोसल* चरिउ कराविउ। णिवचित्तिपुणु तहुगुण भाविउ॥
(सुकौ० ४।२४)

कवि के उल्लेखानुसार प्रस्तुत रचना का समाप्तिकाल वि० सं० १४९६ की माघ कृष्ण दशमी, अनुराधा नक्षत्र है।

(३) मेघेश्वर सेनापति चरित

प्रस्तुत रचना की प्रतिलिपि वि० सं० १९९६ कुँवार वदी ८ को रोहतक स्थित वि० सं० १६०६ की मगसिर सुदि द्वितीया को लिखी गई एक प्रति के आधार पर कराई गई थी। इसकी एक पुष्पिका मे काष्ठासंघ, माथुरगच्छ, पुष्करगण-शाखा के भट्टारक कुमारसेन, प्रतापसेन, महासेन, विजयसेन, नयसेन, आससेन, अनन्तकीर्त्ति, कुमारकीर्त्ति हेमचन्द्र एवं पद्मनन्दि का नामोल्लेख किया गया है, किन्तु आश्चर्य का विषय है कि प्रतिलिपि कराने वाले का नामोल्लेख नही हुआ। अनुमानतः वह जिस किसी प्रकार टूट-छूट गया होगा। इस रचना की प्रतिलिपि कुछ प्रामाणिक भी प्रतीत नहीं होती। लिपिक ने कहीं-कहीं तो पंक्तियाँ की पंक्तियाँ ही छोड़ दीं और कहीं-कहीं बहुत ही गलत ढंग से प्रतिलिपि की है।

उक्त ग्रंथ में २०२ पृष्ठ है तथा उसकी १३ सन्धियों में ३०४ कडवक अथवा २००० से भी ऊपर गाथाएं हैं। उसमें कवि ने भरत चक्रवर्त्ति के प्रधान सेनापति मेघेश्वर के चरित का वर्णन किया है। यह ग्रन्थ ग्वालियर निवासी अग्रवाल जाति के ऐडिलगोत्रीय श्री खेऊसिंह (खेम सिंह) की प्रेरणा से उन्ही के आश्रय में रचा गया था। उक्त खऊसिंह से कवि इतना प्रभावित था कि उसने प्रशस्ति भाग के अतिरिक्त भी प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में संस्कृत में श्लोकों में उनका गुणानुवाद कर आशीर्वाद दिया है। निम्न संस्कृत श्लोक दृष्टव्य है जिसमें उनके कल्याण के निमित्त कवि ने ऋषभ भगवान से प्रार्थना की है :—

> तीर्थेशो वृषभेश्वरो गणनुतो गौरीश्वरो शंकरो,
> आदीशो हरिणंचितो गणपतिः श्रीमान्युगादि प्रभुः।
> नाभेयो शिववर्द्धि वर्द्धनशशिः कैवल्यमाभासुरः,
> क्षेमाख्यस्य गुणान्वितस्य सुमतेः कुर्याच्छिवं सोजिनः॥

(मेघ० द्वि० सं० प्रारम्भ)

उक्त पद्य में ऋषभ के विशेषण दृष्टव्य हैं। वे उनकी प्राचीनता के सूचक हैं तथा ऋग्वेद एवं भागवत् पुराण के ऋषभ वर्णन से प्रायः मेल खाते है। इससे यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार के ऋषभ-वर्णन की परम्परा रइधू के समय में थी। उक्त आश्रयदाता का वंशवृक्ष निम्न प्रकार है:—
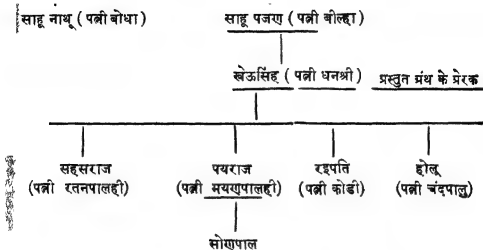
रइधू द्वारा उल्लिखित पूर्ववर्त्ती साहित्य, साहित्यकार एवं भट्टारक

उक्त तीनों ग्रन्थों में से हरिवंश पुराण में रइधू ने अपने पूर्ववर्त्ती साहित्य तथा साहित्यकारों में देवनन्दि कृत जैनेन्द्र व्याकरण, जिनसेन कृत महापुराण तथा रविसेण कृत रामायण का स्मरण किया है।

मेघेश्वर चरित में उक्त तीनों रचनाओं के अतिरिक्त वज्रसेन कृत षडदर्शन, सुरसेन कृत मेघेश्वर चरित, दिनकरसेन कृत अनंग चरित तथा महाकवि स्वयम्भू, चउमुह एवं पुष्पदन्त के नामों का उल्लेख किया है। कवि के उक्त उल्लेखों से दो बातों की सूचना स्पष्ट मिलती है, प्रथम तो यह कि कवि ने अपनी रचना के लेखनकाल में उक्त साहित्य एवं साहित्यकारों को अपने सम्मुख एक आदर्श के रूप में रखा है तथा दूसरा यह कि कवि ने अपनी रचनाओं में जो कुछ भी लिखा वह सब उसने परम्परा के अनुसार ही लिखा है। कवि ने उसमें किसी विशेष प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया।

भट्टारकों की परम्परा में कवि ने काष्ठासंघ, माथुरगच्छ, पुष्करगण के विजयसेन, गुणकीर्त्ति (वि० सं० १४६८–७३) यशःकीर्त्ति (वि० सं० १४८६–९७), क्षेमकीर्त्ति, हेमकीर्त्ति (वि० सं० १४९९) कुमारसेन (वि० सं० १५०६–३०) कमलकीर्त्ति (वि० सं० १५०६–१०) तथा उनके शिष्य शुभचन्द्र (वि० सं० १५०६–३०) का उल्लेख किया है।

इनमें से भट्टारक यशःकीर्त्ति एवं शुभचन्द्र को कवि ने गुरुरूप में स्मरण किया है। भट्टारक शुभचन्द्र का परिचय देने के लिये कवि ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है। तदनुसार भ० कमलकीर्त्ति ने कनकाद्रि (सोनागिर, मध्यप्रदेश) पर एक भट्टारकीय गद्दी की स्थापना की थी जिसका पट्टधर भ० शुभचन्द्र को बनाया गया था। कवि की इस सूचना से यह स्पष्ट है कि कनकाद्रि उस समय विद्या का बड़ा भारी केन्द्र बन गया था। भ० यशःकीर्त्ति के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि "उन्होंने मुझे आशीर्वाद के साथ गुरुमंत्र दिया जिसकी कृपा से मैं कवि बन गया" (सुकौ० १/३/७-१०)

रचना-स्थान एवं समकालीन राजा

कवि की साहित्य-साधना की भूमि ग्वालियर, दिल्ली एवं हिसार रही हैं किन्तु अधिकांश रचनाएँ ग्वालियर में ही लिखी गई। प्रस्तुत रचनाएँ भी कवि ने ग्वालियर में ही रची थी। उस समय वहाँ सुप्रसिद्ध तोमरवंशी राजा डूँगरसिंह राज्य करता था। कवि की अन्य कृतियों के अध्ययन करने एवं मध्यभारत का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि राजा डूँगरसिंह रइधू से इतना अधिक प्रभावित था कि उसने उन्हें अपने दुर्ग में रहकर साहित्य-साधना करने के लिये आमन्त्रित किया था। कवि ने कुछ समय तक वैसा किया भी। इतना ही नहीं कवि की इच्छानुरूप राजा डूँगरसिंह एवं उसके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह ने लगातार ३३ वर्षों तक ग्वालियर-दुर्ग में असंख्य जैन मूर्त्तियों का निर्माण कराया था जिनकी विशालता, भव्यता एवं सुन्दरकला देखकर कनिंघम प्रभृति कलापारखियों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

भाषा-शैली—

कवि की रचनाओं की भाषा सन्धिकलीन अपभ्रंश है। उनका आलोडन-विलोडन करने से प्रतीत होता है कि कवि ने पाण्डित्यप्रदर्शन के व्यामोह में न पड़कर स्वाभाविक गति से ही विषयवस्तु का स्पष्टीकरण किया है। भावों को व्यक्त करने के लिये किसी एक विशेष वर्ग के बंधे-बंधाये शब्दों की खोज में न रुककर उसने सभी वर्गों के प्रायः लोक प्रचलित सर्वज्ञात शब्दों का आश्रय लिया जैसे मुग्गदालि (हरि० ४।९।२) = मूँग की दाल; खांसंतए (हरि० ४।९।९) = खाँसते हुए; खल्ल (हरि० ५।७।५) = खाल, चमड़ी; सत्तक्खर (हरि० ५।९।४) = सात अक्षर; पियारी (हरि० ५।१५।१५) = प्यारी; रसोय, (५।१७।१०) = रसोई; सत्तू (हरि० ५।१८।१३) = सत्तू; टले (सुकौ० ४।४।१७) = टलना; भडप्प (सुकौ० १।६।११) = झड़पना; धूल (सुकौ० १।३।१२) = धूल; चोजु (सुकौ० १।६।३)

=आश्चर्य; रसोइ (सुको० ४।५।१८)=रसोई आदि। इसी प्रकार मुहावरों के भी काफी प्रयोग मिलते हैं। जैसेः—परउवयारिउ तिहुवणि वंदो (हरि० ५।६।७)=परोपकारी व्यक्ति तीनों लोकों में वंदित होता है। मित्त विपत्तिएण सहु जोइवि (हरि० ५।६।११)= मित्र विपत्तिकाल में ही परखा जाता है। णव छिप्पईपावे कमलुव जलि (हरि० ५।१४।५) =पाप उसी प्रकार नहीं छिप सकता जिस प्रकार कि जल में उत्पन्न कमल नहीं छिप सकता। किं गिहच्छु तिय संगें चत्तउ (हरि० ५।५।११)=वह गृहस्थ क्या, जो स्त्री का साथ छोड़ दे? विक्किणिउ रयणु कउडी णिमित्तु (हरि० ४।१०।४)=कौड़ी के निमित्त रत्न बेच दिया आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं। हिन्दी के उद्भव एवं विकास के इतिहास लिखने में कवि की ये रचनाएँ निस्सन्देह ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगी।

काव्यकला की दृष्टि से भी उक्त रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। कवि ने दुवई, गाहा, चामर, घत्ता, पद्धडिया, समानिका एवं मत्तगयंद आदि विविध छन्दों में शृंगार, वीर हास्य, वीभत्स, एवं शान्त आदि रसों की प्रसंगवश उद्भावनाएँ की हैं। वर्ण्य-विषय परम्परा प्राप्त होने पर भी कवि ने अपनी नवीन शैली तथा उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक आदि विविध अलंकारों की योजना करके उन्हें काफी सरस एवं आकर्षक बना दिया है।

— —

मेरे शोधकार्य में जैन सिद्धान्त भवन का सहयोग

श्रीयुत् प्रो० स्वर्णकिरण, किसान कॉलेज, सोहसराय (पटना)

जैन सिद्धान्त भवन, आरा नगर के पुस्तकालयों में ही नहीं, भारत के पुस्तकालयों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, ऐसा कहने में मुझे किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं होता। बात यह है कि यहाँ की पुष्कल सामग्री (प्रकाशित, अप्रकाशित ग्रन्थ पत्र-पत्रिकाएँ, तालपत्र आदि) परिमाण ही नहीं, प्रतिमान की दृष्टि से भी अत्यन्त ध्यानाकर्षी हैं। नाम देखकर कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि यहाँ मात्र जैन लोगों के आचार-विचार विषयक ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं का संकलन होगा, पर यथार्थ इसके प्रायः प्रतिकूल है। यहाँ जैन साहित्य का ही संकलन नहीं, जैनेतर साहित्य प्राकृत अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि विविध भाषा विषयक दुर्लभ से दुर्लभ ग्रन्थ और कोश आदि प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं. वे अन्यत्र शायद ही मिल सकते है, ऐसा मैं भारत के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों को दृष्टिपथ में रखकर ही, जिन्हें शोधकार्य के क्रम में मुझे देखना पड़ा, कह रहा हूँ।

जैन सिद्धान्त भवन का अंग्रेजी नाम है **Central Jain Oriental Library** अर्थात् केन्द्रीय जैन प्राच्य-पुस्तकालय; पर यह नाम भी मुझे प्राप्य सामग्री को देखकर अव्याप्त ही प्रतीत होता है। आश्चर्य तो इस बात को लेकर होता है कि यह स्वर्गीय स्वनाम धन्य दानवीर श्री देवकुमार जी द्वारा स्थापित है! पता नहीं, देवकुमार जी जैसे दो-चार अन्य विद्यानुरागी इसके सहायक के रूप में होते तो इसकी सामग्री और इसका रूप कैसा होता! अवश्य ही देवकुमार जी विस्तीर्ण विचार वाले अग्रद्रष्टा रहे होंगे; तभी तो विभिन्न विषयों के शोधेप्सुओं के लिए, आज यहाँ विभिन्न सामग्री उपलब्ध है। संभव है, देवकुमार जी के परवर्त्तियों ने इसके आकार और प्रकार को बढ़ाया हो, पर इस बात को तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि इसके मूल प्रेरक वही थे और उन्होंने ही विद्यानुराग की कल्पबेलि अपने परवर्त्तियों में लगा दी।

मेरा शोधविषय "हिन्दी में समस्यापूर्ति की परम्परा तथा विकास" जैन-साहित्य से सम्बद्ध नहीं था, अतः प्रारम्भ में इस पुस्कालय की ओर आकृष्ट न होना स्वाभाविक था और परिणामतः मैं कलकत्ता, गया, पटना, इलाहाबाद, आगरा, कानपुर आदि इधर-उधर के पुस्तकालयों में चक्कर लगाता रहा; पर अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यहाँ पर की सामग्री की छानबीन मैं पहले कर लेता तो इधर-उधर भटकने का श्रम

और समय, बहुत कुछ बचा लेता। मेरे आद्य शोध निर्देशक स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा ने एकबार इस पुस्तकालय की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया था, पर तब मैंने ध्यान नहीं दिया था। मैंने सोचा था, समस्यापूर्त्ति विषयक सामग्री कलकत्ता, पटना, इलाहाबाद, आगरा, कानपुर में ही अधिक मिलेगी, यहाँ क्या मिल सकती है पर अब तो मैं अपनी पूर्वधारणा को परिवर्त्तित करने के लिए ही विवश हूँ।

जैन सिद्धान्त भवन से प्रकाशित और सुरक्षित "जैन सिद्धान्त भास्कर" की पंजिकाओं को उलटने से मुझे दो-तीन ऐसे लेख मिले जो मेरे लिए, बहुत सीमा तक, पथ प्रदर्शक बने। वे है संस्कृत में दूत काव्य साहित्य का निकास और विकासः चिन्ताहरण चक्रवर्ती (जै० सि० भा० २।२, सित० १९३५), दूत काव्य सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातें : अगरचन्द नाहटा (जै० सि० भा० ३।१, जू० १९३६), जैन-पाद-पूर्ति-काव्य-साहित्यः अगरचन्द नाहटा (जै० सि० भा० ३।२, सित० १९३६) इत्यादि। इन लेखों से मेरे शोध विषय का एक अध्याय "प्राचीन भारतीय साहित्य में समस्यापूर्त्ति" विशेष पोषित है।

वास्तव में, मेरे शोधविषय "हिन्दी में समस्यापूर्त्ति की परम्परा तथा विकास" का सम्बन्ध. काव्य के उन पूरणीय अंशों से है, जो किसी-न-किसी रूप में बनाकर दिये जाते हैं और जिनकी पूर्त्ति सुनने की आकांक्षा बराबर बनी रहती है। छन्द, विषय और समय में से कभी एक, कभी दो और कभी तीनों बन्धन का पालन करते हुए, पूर्त्तिकर्त्ता को समस्या का समाधान प्रस्तुत करना पड़ता है; ऐसे समस्या के शाब्दिक विश्लेषण—'समस्या तु समासार्था" अर्थात् समस्या का अर्थ संक्षेप में कुछ कहना; पर कहने के पीछे सुनने की इच्छा का लगा-लिपटा रहना——की वस्तुवाचकता और गुण-वाचकता के क्रम में—समस्या के विविध प्रकारों पर ध्यान टिकना स्वभाविक ही है। दूतकाव्य समस्यापूर्त्ति का एक विशेष प्रकार है। अतः भास्कर का उपर्युक्त लेख "संस्कृत में दूतकाव्य का निकास और विकास" बहुत काम का सिद्ध हुआ। विद्वान और परिश्रमी लेखक चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने इसमें प्रायः पंचाशत दूत काव्यों का उल्लेख किया है, जिनके नाम अक्षरानुक्रम से ये हैं:—इन्दु दूत. उद्धवदूत, उद्धवसन्देश, कीरदूत, कोकिलसन्देश (तीन)—[दो क्रमशः उदण्ड, नृसिंह द्वारा रचित, एक वेंकटाचार्य द्वारा संकलित], चकोर-सन्देश, चन्द्रदूत (दो)—[एक 'जम्बू कवि द्वारा रचित, दूसरा विनय-प्रभ द्वरा संकलित], चातकसन्देश, चेतोदूत, जैन मेघदूत, तुलसीदूत, नेमिदूत, पदांकदूत, पवनदूत (दो)—[एक धोयी विरचित, दूसरा वादिचन्द्रसूरि द्वारा प्रणीत], पान्थदूत, पिकदूत, भक्तिदूती भृंगसन्देश, भ्रमरदूत, मनोदूत (पाँच)-[प्रथम तीन क्रमशः विष्णुदास,

व्रजनाथ, रामराम द्वारा रचित; अन्तिम दो अज्ञात लेखक विरचित], मयूरसन्देश, मेघदूत (दो)-[क्रमशः कालिदास और विक्रम द्वारा प्रणीत], मेघदूत समस्यालेख, रथांग-दूत, विप्रसन्देश, शीलदूत शुकसन्देश (तीन)—[क्रमशः लक्ष्मीदास, करिंगपल्लि नम्बूद्रि, रंगाचार्य विरचित], सिद्धदूत, सुभगसन्देश, हंसदूत (तीन)-[पहला रूपगोस्वामी-रचित, दूसरा, रघुनाथदासकृत तीसरा, सरस्वती विरचित], हंससन्देश (तीन)-[प्रथम दो क्रमशः वेंकटेश और भट्टवामन रचित, अन्तिम अज्ञात लेखक द्वारा प्रणीत] आदि। इन दूत काव्यों में कालिदास का मेघदूत ही सबसे पुराना है और इसका मूल कथ्य—प्रेमसन्देश-प्रेषण—ही किसी न किसी रूप में अन्यदूत काव्यों में प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है। यह बात दूसरी है, जैसा कि प्रस्तुत लेख "संस्कृत में दूत काव्य का निकास और विकास" के लेखक ने बतलाया है, कि कालिदास के पूर्ववर्त्ती (?) भी कुछ दूत काव्य (भारतीय तथा भारतीयेतर): यथा, 'काम विलाप जातक (नं० २९७)—आपत्ति में फँसे हुए एक पुरुष द्वारा कौआ को दूत बनाकर अपनी स्त्री के पास सन्देश प्रेषण—, तथा चीनी कवि हसकन (Hskun) (१९६-२२१ ई०) का मेघदूत—एक भद्र महिला द्वारा मेघ को दूत बनाकर अपने स्वामी के पास सन्देश प्रेषण—आदि मिल जाते हैं। कालिदास का समय ईस्वी शताब्दी मान लेने पर, और अनेक प्रमाणों पर मैंने यही माना है, उपर्युक्त सभी दूत काव्य परवर्त्ती ही सिद्ध होते हैं। "दूतकाव्य सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातें" नामक लेख में भी अगरचन्द नाहटा जी ने कुछ-एक नये दूत काव्य की चर्चा की है यथा म्युत-नकुङ्कृत चक्रवाक दूत, भगवद्दत्त द्वारा रचित मनोदूत आदि। पर इन सब दूतकाव्यों में नेमिदूत, मेघदूत समस्यालेख शीलदूत ही अधिक उपयोगी प्रतीत हुए, क्योंकि इनमें कालिदास के मेघदूत के चतुर्थ चरण अन्तर्निदिष्ट हैं और येही मेरे शोधप्रबन्ध की कठोर सीमा के अनुकूल सिद्ध हुए।

यों 'मेघदूत' के पादपूर्त्ति काव्यों में जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय (रचनाकाल ८ वीं शताब्दी) पहला काव्य है, जिसमें मेघदूत' के चारो चरण अन्तर्निर्दिष्ट है। स्थानाभाव से उद्धरण देना संभव नहीं। अगरचन्द नाहटाजी ने भी अपने लेख 'जैनपाद-पूर्त्तिकाव्य-साहित्य' में इसका संकेत दिया है। साथ ही उन्होंने माघकाव्य (शिशुपाल बध) के समस्यापूर्त्तिस्वरूप 'देवानन्दाभ्युदय' तथा हर्षकाव्य (नैषध) के समस्यापूर्त्ति-स्वरूप 'शान्तिनाथ चरित' (दोनों के रचयिता मेघविजयोपाध्याय) का भी उल्लेख किया है। 'देवानन्दाभ्युदय' शिशुपाल बध के अन्तिम चरण की समस्यापूर्त्तिरूप में, विजयदेव सूरि के भिन्न-भिन्न समय का इतिहास, सातसर्गों में रखता है तथा 'शान्ति-नाथचरित' नैषध के प्रथम सर्ग (केवल अट्ठाइसवे श्लोक के चतुर्थ पाद को छोड़कर)

के प्रत्येक पाद को अन्तर्निर्दिष्ट कर, शान्तिनाथ के चरित की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता हैं। जैनस्तोत्रों की पादपूर्त्ति के क्रम में, भक्तामर स्तोत्र के पादपूर्त्ति-स्वरूप ये स्तोत्र—ऋषभभक्तामर, शान्तिभक्तामर, नेमिभक्तामर, दादापार्श्वभक्तामर, पार्श्वभक्तामर, वीरभक्तामर, जिनभक्तामर, सरस्वतीभक्तामर, आत्मभक्तामर, श्रीवल्लभ-भक्तामर, कालूभक्तामर, जिनस्तुति, ऋषभचैत्यवन्दन, नवकल्लोल पार्श्वभक्तामर—तथा कल्याणमन्दिर स्तोत्र के पादपूर्त्तिरूप ये स्तोत्र—जैनधर्मवर स्तोत्र, पार्श्वनाथ स्तोत्र, श्रीकान्तिविजयगणिकृत स्तोत्र, श्रीविजयानन्द सूरीश्वर स्तवनम्, वीरस्तुति, वीरजिनस्तुति—उल्लिखित है। भद्रबाहु के उवसग्गहर स्तोत्र की समस्यापूर्त्ति में पार्श्वस्तोत्र का नाम आता है, जो देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार-फण्ड के ग्रन्थाङ्क ८० के पृष्ठ ४५-४८ में मुद्रित है। स्तुतियों के पादपूर्त्तिरूपः ये स्तुतियाँ ध्यातव्य हैं: संसारदावा * स्तुति के पादपूर्त्तिस्वरूप ऋषभस्तवन, पार्श्वजिनस्तवन, वीरजिनस्तुति, 'सकलकुशल-वल्लि' के समस्तपादपूर्तिरूप शान्तिजिनस्तुति' 'श्रेयःश्रियामङ्गलकेलिसद्म' के समग्रपाद-पूर्त्तिमय पार्श्वजिनस्तुति, 'ज्ञानस्यां' के सम्पूर्णतः पादपूर्त्तिरूप 'ज्ञानपंचमीस्तुति' आदि; शिवमहिम्नस्तोत्र की पादपूर्त्ति के रूप में ऋषभमहिम्नस्तोत्र, 'सिद्धोवर्णसमाम्नाय' आदि कलाप व्याकरण की सन्धि की पादपूर्त्ति में 'कलाप व्याकरण सन्धिगर्भित-स्तव, अमर-कोश के प्रथम श्लोक के पादपूर्त्तिस्वरूप (पाँचवाँ श्लोक प्रशस्ति का जोड़कर) शंखेश्वर पार्श्वस्तुति आदि। यही नही, अगरचन्दजी का अभिमत है कि जैनों में अमरचन्द्रसूरि आदि कतिपय विद्वान ऐसे है कि जिन्होने सैकड़ों समस्याओं की मनोहारिणी पूर्त्तियाँ की हैं, जो सुभाषित या फुटकर श्लोक के रूप में उपलब्ध है। सम्भव है, ऐसे सुभाषित और फुटकर श्लोक अभी और प्रकाश में आये और शोधप्रज्ञों के लिए ये विचारभूमि का काम करें, पर जितने काव्य, स्तोत्र, स्तवन आदि उपलब्ध हैं विशेषतः जैनसिद्धांत भवन में वे इस बात के द्योतक है कि काव्य के वे अनुपेक्षणीय अंश है। वैदिक काल से विकसित, भारतीय साहित्य में समस्यापूर्त्ति, जिनमें लिखित या अलिखित, अधि-कांश किंवदन्तियों के रूप में उपलब्ध हैं—के विकास में इन उपर्युक्त दूतकाव्यों, काव्य-ग्रन्थों, स्तोत्रों, स्तुतियों आदि का पर्याप्त हाथ है। इनके रचयिता की प्रतिभा की ओर जब हमारा ध्यान जाता है तो और भी हमें दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है, क्योंकि इन रचयिताओं का उद्देश्य केवल समस्यापूर्त्ति कर देना ही नहीं, बल्कि समस्यापूर्त्ति के माध्यम से रोचक रूप मे जैन नियमों और सिद्धान्तों का समावेश था, आचरण और

* श्री आदिनाथं नतनाकिनाथं लक्ष्मीघनाथं कृतपापमाथम्।
संवेगतान्यत्कुल हेमहीरं, संसारदावानलदाहनीरम् ॥

विवेक का सामंजस्य स्थापित करना था।

शोध प्रबन्ध के पहले अध्याय 'समस्यापूर्त्तिः विभिन्न प्रकार और पद्धतियों' में चित्र, चित्रकाव्य, श्लेष, श्लेषकाव्य को मैंने समस्यापूर्त्ति के विशेषभेद माने हैं। इस दृष्टि से सिद्धान्तभवन में अनेक चित्रकाव्य श्लेषकाव्य उपयोगी प्रतीत हुए, पर स्थानाभाव से दो-तीन की ही चर्चा करना उचित समझूँगा। चित्रकाव्य वर्णाश्रित और मानसिक व्यायाम होते हुए भी, असाधारण प्रतिभा की अपेक्षा रखते हैं। समन्तभद्राचार्य की "स्तुतिविद्या" ऐसे ही विरल चित्रों से सुसज्जित है जो मूलतः जिनस्तुति विषयक है। ग्रन्थकार का दावा है कि यह 'आगसांजये' पापों को जीतने के लिये निर्मित है। पर आश्चर्य है, कविने इस प्रकार के बन्धन में होते हुए भी, कवि-काव्य-नामगर्भ-चक्रवृत्त का वर्णन किया है और परिशिष्ट भाग में चित्र के भी दर्शन कराये हैं। भट्टि कवि का 'भट्टिकाव्य' सर्व प्रथम यहीं देखने में आया जो व्याकरण शिक्षण और रावण बध दोनों को समेट कर चलता है। यहीं यमक (चित्रकाव्य का ही एक भेद—सार्थक होने पर भिन्न अर्थवाले स्वर-व्यंजन समुदाय की स्वरूपतः क्रमतः आवृत्ति) के ये इक्कीस भेद मिले : (अक्षरानुक्रम से) अन्य युग्मपादयमक, आद्यन्तयमक काञ्चीयमक, गर्भयमक, चक्रवालयमक, पादाऽऽदियमक, पादाऽन्तयमक, पादमध्ययमक, मध्याऽन्तयमक, महायमक, यमकाऽऽवली, युगपातयमक, विपथयमक, समुद्गयमक, सर्वयमक आदि। धनञ्जय का "द्विसन्धान", हरिदत्तसूरि का "राघवनैषधीय", कविराज पण्डित का "राघवपाण्डवीय" आदि कतिपय श्लेषकाव्य (आद्यन्त दो कथाओं का निर्वाह करने वाले) भी यहाँ उपलब्ध हैं, जो मेरे लिए तो उपयोगी मालूम पड़ेही, किसी भी कलाविलासी के लिए उपयोगी मालूम पड़ सकते है।

सिद्धान्त-भवन के कोशग्रन्थो का उपयोग तो मेरे शोध प्रबन्ध तक ही सीमित नहीं है। "इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका", "शब्दकल्पद्रुम" के अतिरिक्त "हिन्दी विश्वकोष" का यहाँ होना इस बात का प्रमाण है कि वह मात्र जैन-सिद्धान्त-भवन नहीं, सामान्य सिद्धान्त-भवन है, जिसके द्वार सब के लिए खुले है। स्थान का अभाव यहाँ अवश्य है, पर विभिन्न संस्कृतियों के खुलकर खेलने के स्थान का अभाव यहाँ नहीं कहा जा सकता। यह बात दूसरी है कि कुछ लोग यहाँ मात्र भारतीय संस्कृति का क्रीड़ास्थल मानें, पर मुझे तो लगता है, यहाँ विश्वसंस्कृति की क्रीड़ा का पूर्ण संयोग प्राप्त है। और ऐसेही विश्वसंस्कृति के आराधक के रूप मे जैन सिद्धान्त-भवन का स्मरण कर, मैं, गौरव ही नहीं, गर्व का अनुभव करता हूँ।

स्व० बाबू निर्मल कुमार जी जैन

स्व० बाबू चक्रेश्वर कुमार जी जैन

वादिराज और वादीभसिंह

श्रीयुत् आचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

कविवर वादिराज ने अपने न्याय विनिश्चयालंकार[1] के अन्त में अपना परिचय देते हुए अपने को मतिसागर का शिष्य बतलाया है तथा पार्श्वनाथ चरित की प्रशस्ति में अपने गुरु मतिसागर को श्री बालदेव का शिष्य कहा है। वादिराज ने अपना पार्श्वनाथ[2] चरित सिहचक्रेश्वर या चालुक्यचक्रवर्ती जयसिंह देव की राजधानी में निवास करते हुए शक सं० ९४७ (१०२५ ई०) की कार्तिक सुदी तृतीया को पूर्ण किया था।

श्रवणबेलगोला की पार्श्वनाथ वस्ती के शिलास्तम्भ पर उत्कीर्ण एक लेख[3] में भी मतिसागर के दो शिष्य बतलाये है, एक वादिराज और दूसरे वादिराज के सब्रह्म-चारी दयापाल, जिन्होंने रूपसिद्धि (शाकटायन व्याकरण की टीका) की रचना की थी। इस शिलालेख का समय ११२० ई० है।

मैसूर राज्य के नगर ताल्लुके के अन्तर्गत हुम्मच में पञ्चवस्ती से प्राप्त शिला[4] लेखों में भी वादिराज का उल्लेख है किन्तु वह उल्लेख इस रूप में है कि उनसे है। उसी के विश्लेषण तथा यथोचित समाधान के लिये यह लेख लिखा जाता है। पञ्चवस्ती से प्राप्त शिलालेखो का नम्बर है २१३, २१४, २१५, २१६ और ३२६। प्रथम चार शिललेखों का समय शक संवत् ९९९ (१०७७ ई०) है। ये सब लेख कन्नड़ भाषा में है। शिला लेख न० २१३ में लिखा है कि श्री विजय भट्टारक नियङ्गुडि के निदुम्बरे तीर्थ के अरुङ्गलान्वय के नन्दिगण के अध्यक्ष थे, इनके गृहस्थ शिष्य चट्टल देवी और नन्नि सान्तर थे। उनके शिष्य श्रेयान्स पण्डित ने पञ्चबसदि की नीव का पत्थर रखा। उसमें श्रेयान्स पण्डित की गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—गौतम गणधर, कुन्दकुन्दाचार्य, भद्रबाहु स्वामी, समन्त भद्र,

---

१ 'शिष्य श्री मतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तयः श्री भृता, भर्तुः। सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वाद विद्यापतिः ॥५॥'

२ 'शाकाब्दे नगवार्धिरंध्रगणने संवत्सरे क्रोधने, मासे कार्तिक नाम्नि बुद्धि महिते शुद्धे तृतीयादिने।
सिंहे पाति जयादिके वसुमती जैनीकथेयं मया, निष्पत्ति गमिता सती भवतु व. कल्याण निष्पत्तये ॥५॥'

३ जैन शिलालेख संग्रह प्र० भाग, लेख नं० ५४।

४ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेख नं० २१३, २१४, २१५, २१६ तथा जैन शिलालेख संग्रह भाग ३, लेख नं० ३२६।

शिवकोट्याचार्य, वरदत्ताचार्य, तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता आर्यदेव, गंगराज्य के संस्थापक सिंहनन्दि, एकसन्धिभट्टारक, सुमतिभट्टारक, वादिसिंह, अकलंकदेव, वक्रनन्द्याचार्य, पूज्यपादस्वामी, श्रीपाल भट्टारक, अभिनन्दनाचार्य, कविपरमेष्ठी, त्रैविद्यदेव, अकलंक-सूत्र पर वृत्ति रचयिता अनन्तवीर्य भट्टारक, कुमारसेन देव, मौनिदेव, विमल चन्द्र भट्टारक, उनके शिष्य वादिराज, राजा राचमल्ल के गुरु कनकसेन भट्टारक, उनके शिष्य शब्दानुशासन पर रूपसिद्धि प्रक्रिया के रचयिता दयापालदेव, पुष्पसेन सिद्धान्त-देव षट्तर्क षण्मुख जगदेकमल्लवादि, मुनि वादिराज देव हेमसेन, श्री विजय।

शिलालेख नं० २१४ में—राजा राचमल्ल के गुरु वादिराज, कनकसेनदेव उनके शिष्य ओडेयदेव, रूपसिद्धि के कर्ता दयापालदेव, पुष्पसिद्धान्तदेव, पट्तर्कषड्मुख जगदेकमल्लवादि वादिराज, कमलभद्रदेव अजितसेन देव, शब्दचतुर्मुख तार्किकचक्रवर्ती वादीभसिंह, कुमारसेन देव, श्रेयांसदेव के नाम है।

शिलालेख नं० २१५ में -हेमसेन मुनि, शब्दानुशासन पर रूपसिद्धि के रचयिता दयापाल मुनि, पुष्पसेन सिद्धान्तदेव श्रीविजय, वादिराज, अजितसेन, श्रेयांस पण्डित।

लेख नं० २१६ में—द्रमिलगण, नन्दिसंघ और अरुङ्गलान्वय के कनकसेन पण्डित देव के, जिनका दूसरा नाम वादिराज था, शिष्य ओडेयदेव श्री विजय पण्डित देव के शिष्य कमलभद्र पण्डित देव के नाम है।

लेख नं० ३२६ में—राजा राचम के गुरु वादिराज देव अपरनाम कनकसेन देव, उनके शिष्य आडेयदेव रूपसिद्धि के कर्ता दयापालदेव, षट्तर्कषड्मुख स्याद्वाद विद्यापति जगदेकमल्ल वादिराज, कमलभद्रदेव, शब्द चतुर्मुख तार्किक चक्रवर्ती वादीभसिंह अपरनाम अजितसेन पण्डितदेव कुमारसेन देव, श्रेयांसदेव ये नाम है।

उक्त उल्लेख पाठक को भ्रम में डालने वाले हैं जिसका स्पष्ट उदाहरण श्री बी० ए० सालेतोर की "मिडियावल जैनिज्म" नामक पुस्तक में देखने को मिलता है। श्री सालेतोर ने उक्त शिलालेखों के सम्बन्ध में अपना भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है—"प्रथम और द्वितीय पञ्चवस्ती शिलालेख एक ही काल १०७७ ई० के है, जो हमारे सामने आकर्षक तथ्य उपस्थित करते हैं। प्रथम में मुनिदेव के पश्चात् विमलचन्द्र का नाम आता है, उनके शिष्य वादिराज थे जो राचमल्ल के गुरु थे। उनका नाम कनकसेन था, उसके बाद लिखा है कि वादिराज के शिष्य दयापाल और पुष्पसेन भट्टारक थे। वादिराज की कीर्ति इतनी महान् थी कि उनके शिष्यों का उल्लेख करने के पश्चात् प्रथम शिलालेख में पुनः वादिराज की प्रशंसा की गई है। दूसरे शिलालेख में प्रथम शिला-लेख की वार्ता को दोहराते हुए उनके शिष्य का अपरनाम आडेयदेव दिया है। इसमें

वादिराज के गुरु के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा तथा वादिराज का नाम अकलंक देव के एकदम पश्चात् लिखा है। तीसरे पञ्चवस्ती शिलालेख में भी अकलंक देव के पश्चात् ही वादिराज का नामोल्लेख है और उसे राचमल्ल का गुरु कहा है तथा उनके शिष्य आडेयदेव दयापाल को रूप सिद्धि का कर्ता कहा है।"

उक्त विवरण के पश्चात् श्री सालेतोर ने वादिराज के गुरु तथा शिष्यों को लेकर जो कठिनाई उपस्थित हुई है उसे दृष्टि मे रख श्री सालेतोर ने उक्त शिलालेखों के आधार पर यह भी लिखा है कि वादिराज का वास्तविक नाम कनकसेन था। उसपर से नीचे लिखे तथ्य निर्धारित किये है –

१ साहित्य तथा दर्शन के विषय में वादिराज की विद्वत्ता असंदिग्ध है।
२ उन्होंने पश्चिमीय चालुक्य नरेश जयसिंह से जयपत्र प्राप्त किया था।
३ वह राजा राचमल्ल के गुरु थे।

किन्तु हमें लगता है कि श्री सालेतोर को वादिराज नाम पर से भ्रम हुआ है। शिलालेख नं० २१३ में विमलचन्द्र भट्टारक के शिष्य तथा राजा राचमल्ल के गुरु जिन वादिराज का उल्लेख है, वे वादिराज मतिसागर के शिष्य वादिराज से भिन्न है उन्हीं का अपरनाम कनकसेन था। और शिलालेख नं० २१४ में रूपसिद्धि के कर्ता दयापाल को उन्हीं वादिराज कनकसेन का शिष्य बतलाया है।

श्रवणबेलगोला की पार्श्वनाथ बस्ती से प्राप्त शिलालेख नं० ५४ में मतिसागर के पश्चात् हेमसेन की प्रशंसा की गई है और उसमें हेमसेन के द्वारा यह कहलाया गया है कि जो राजाओं की सभा में मुझसे स्पर्द्धा करेगा मैं अवश्य ही मूक कर दूंगा। इससे स्पष्ट है कि हेमसेन बड़े वादी थे, हेमसेन की प्रतिज्ञा पूरक उक्त श्लोक के पश्चात् ही दयापाल की प्रशंसा है। यह हेमसेन उक्त कनकसेन ही है क्योंकि हेम और कनक एकार्थवाची है। वादिराज ने न्यायविनिश्चयालंकर के अन्त में भी "दयापालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी" लिखकर दयापाल, मतिसागर और कनकसेन का नामोल्लेख किया है। ये सब समकालीन थे, किन्तु वादिराज से सम्भवतया जेठे थे। हेमसेन के पीठ पर श्री विजयदेव बैठे थे। उनकी प्रशंसा में शिलालेख नं० ५४ में वादिराज के द्वारा कहलाया गया है कि पहले हेमसेन मुनि में जो ज्ञान और तप था, उनके पीठ पर स्थित श्री विजय में वह सब वर्तमान है। अतः उस समय हेमसेन का स्वर्गवास हो गया, जान पड़ता वादीभसिंह के दो काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं—गद्य चिन्तामणि और क्षत्र चूड़ामणि। उन्होंने गद्य चिन्तमणि के प्रारम्भ में अपने गुरु का नाम पुष्पसेन बतलाया है। और कहा है कि उन्हीं के प्रसाद से उन्हें वादीभसिंहता और

मुनिपुंगवता प्राप्त हुई। अन्त के दो श्लोकों में उन्होंने अपना वास्तविक नाम ओडय-देव बतलाया है।

वादीभ सिंह का अर्थ है वादिरूपी हाथियों के लिये सिंह। अतः यह स्पष्ट है कि वह एक उपाधि है जो आगे चलकर नाम बन गई है। उक्त शिलालेखों में से लेख नं० २१४ अजितसेन देव को शब्द चतुर्मुख, तार्किक चक्रवर्ती तथा वादीभ सिंह लिखा है। लेख नं० २१५ में भी अजितसेन की प्रशंसा की गई है, किन्तु उनके साथ उक्त उपाधियां नहीं हैं। उसमें अजितसेन को सांख्य शास्त्ररूपी मेघों को नष्ट करने के लिये प्रचण्ड वायु, बौद्धशास्त्र रूपी समुद्र के शोषण के लिये वड़वानल तथा जैन शास्त्र रूपी समुद्र के वर्धन के लिये चन्द्रमा कहा है तथा मुनीन्द्रमुख्य भी कहा है जो मुनिपंगवता का ही सूचक है। यथा—

"सांख्यागमाम्बुधरधूननचण्डवायुः बौद्धागमाम्बुनिधिशोषणवाडवाग्निः।
जैनागमाम्बुनिधिवर्द्धनचन्द्ररोचिः जीयादसावजितसेन मुनीन्द्र मुख्यः॥"

यह सब वर्णन अजितसेन के तार्किक चक्रवर्ती, वादीभ सिंह आदि विशेषणों के ही अनुकूल है। अतः अजितसेन मुनि वादीभसिंह थे, इसमें तो सन्देह नहीं है किन्तु गद्यचिन्तामणि के रचयिता वादीभसिंह भी यही थे, इसमें सन्देह है। श्री सालेतोर[1] ने तो इन्हीं को वादीभसिंह मानकर गद्यचिन्तामणि का रचयिता बतलाया है। परन्तु प्रेमी नाथूराम[2] जी ने उसका विरोध किया है जो साधार है, क्योंकि स्वयं वादीभसिंह अपना नाम ओडयदेव बतलाते हैं, अजितसेन नहीं। फिर उनके गुरु की भी समस्या है, यद्यपि उक्त सभी शिलालेखों में दयापाल के पश्चात् एक पुष्पसेन सिद्धान्तदेव का नाम आता है। इन पुष्पसेन सिद्धान्त देव और वादीभसिंह अजितसेन के बीच में वादिराज विराजमान है। श्री प्रेमी जी के अनुसार वादीभसिंह भोजदेव के (१०७६-१११२ वि० सं०) पश्चात् विक्रम की ग्यारहवीं सदी में हुए है। यह समय भी लगभग वही पड़ता है जो उक्त अजितसेन का है। श्रवणबेलगोला से प्राप्त शिलालेख नं० ५४ में भी अजितसेन वादीभ सिंह की बहुत प्रशंसा है। अतः यदि ओडयदेव नाम की समस्या सुलझ जाती है तो वादीभ सिंह की समस्या भी सुलझ सकती है।

---

१ मिडियावल जैनिज्म, पृ० ४५-४६।

अत शिलालेख नं० २१४ आदि के उल्लेखों से जो कठिनाई उपस्थित हुई प्रतीत होती है वह उक्त समाधान के प्रकाश में दूर हो जाती है, आगे हम वादीभसिंह अजितदेव की ओर आते है।

२ मिडियावल जैनिज्म, पृ० ५०। २ जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ३२१।

जैन-सिद्धान्त-भवन अमर हो !

श्रीयुत् डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए., एल-एल. बी., पी-एच. डी., लखनऊ

स्व० बा० देवकुमार जी द्वारा अब से लगभग ६० वर्ष पूर्व स्थापित आरा का "जैन सिद्धान्त भवन" भारतीय-संघ के अन्तर्गत बिहार-राज्य के जिला शाहाबाद के एक सामान्य कस्बे का एक स्थानीय पुस्तकालय मात्र नहीं है, इस भवन का महत्त्व अखिल भारतीय है, वरन् अनेक अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय भी। योरुप, अमेरिका, चीन, जापान सभी देशों के प्राच्यविद, जो भारतीय विद्या (इन्डोलॉजी) के अध्ययन में दिलचस्पी रखते हैं, यह जानते हैं कि जैनोलॉजी उक्त विद्या का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अङ्ग का अध्ययन तब तक अधूरा, सदोष और बहुधा भ्रामक होता है जब तक कि उसमें जैन संस्कृति के तत्संबंधी अङ्गों के सम्यक् अध्ययन का समावेश न किया जाय। आज भारतीय संस्कृति—धर्म, दर्शन, साहित्य, पुरातत्त्व, कला, विज्ञान आदि से संबंधित ऐसा कोई विरला ही प्रकाशन होता है, जिसमें जैन सूचनाओं, संकेतों एवं सन्दर्भों आदि का सर्वथा अभाव हो।

इसके अतिरिक्त, जैन संस्कृति स्वयं इतनी प्राचीन, देश-व्यापी एवं सर्वाङ्गपूर्ण है तथा उससे संबंधित विविध सामग्री इतनी प्रभूत एवं महत्त्वपूर्ण है कि उसका श्रम एवं समय साध्य, स्वतन्त्र शोध-खोज, पर्यवेक्षण, अनुसंधान, अध्ययन, मूल्याङ्कन एवं उपयोग अत्यन्त अपेक्षणीय है। इन सबके साधन जुटाने का एक सफल प्रयास एवं आयोजन इस भवन एवं इसकी शोध पत्रिका—जैन सिद्धान्त भास्कर एवं जैन एंटीक्वेरी—द्वारा किया गया है।

'भवन' में विभिन्न भाषामयी जैन साहित्य का जितना अच्छा संग्रह है, उतना कदाचित् ही किसी अन्य स्थान में हो। साथ ही प्राचीन हस्तलिखित सामग्री भी कम नहीं है। विभिन्न देशी-विदेशी खोज-शोध पत्रिकाएं भी भवन में काफी संख्या में आती रही हैं। भवन की इमारत, स्थिति और वैयक्तिक अध्ययन करने के लिये आवश्यक स्थान आदि की दृष्टि से भी यह संस्था अनुपयुक्त नहीं है। प्रारंभ से ही कोई न कोई विद्वान् (पं० हरनाथ द्विवेदी, पं० के० भुजबली शास्त्री, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री आदि) नियमित रूप से भवन में कार्य करता रहा है, जिससे भवन के भीतर भी शोध-खोज कार्य चलता रहा और बाहर के विद्वान् भी आवश्यक ग्रंथ एवं सूचनाएँ आदि प्राप्त करके उसका लाभ उठाते रहे हैं।

भवन का मुख पत्र 'जैन सिद्धांत भास्कर' एवं उससे सम्बद्ध 'जैन एंटीक्वेरी' लगभग ३० वर्ष पूर्व से निकलने प्रारम्भ हुए। कभी त्रैमासिक, कभी षाण्मासिक, कभी नियमित और कभी अनियमित रूप से निकलते रहने पर भी इस पत्रिका ने अपने जीवनकाल में जैनाध्ययन की ओर अग्रसर हो उसके बहाने भारतीय विद्या एवं प्राच्य अध्ययन की महत्वपूर्ण सेवा की है। इसके संपादक मंडल में सदैव उच्च कोटि के जैन विद्वान् सम्मिलित रहे हैं। और यही एक ऐसी जैन शोध-पत्रिका रही है जिसमें अनेक प्रतिष्ठित जैनेतर प्राच्यविदों एवं इतिहासज्ञ विद्वानों के मूल्यवान मौलिक लेख प्रकाशित होते रहे हैं। भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर शोध-खोज कार्य करने वाले अथवा प्रामाणिक ग्रंथ लिखने वाले देशी-विदेशी विद्वान भी यदि किसी जैन पत्रिका का उपयोग करते रहे हैं तो सर्वाधिक जैनसिद्धान्त भास्कर और जैन एंटीक्वेरी का ही। कर्न इन्स्टीट्यूट की किश्रमियोग्रेफी में भी इस पत्रिका को समुचित स्थान मिला है।

इस प्रकार जैनसिद्धान्त भवन आरा ने अपने पुस्तकालय, वाचनालय, अनुसंधान विभाग एवं शोध पत्रिका द्वारा जैन एवं भारतीय संस्कृति की बहुत कुछ सेवा की है। किन्तु इधर कुछ वर्षों से अनेक कारणों से भवन के कार्य में अत्यधिक शिथिलता आ गई है। यह एक प्रगतिशील संस्था होनी चाहिये थी और अपने जीवन की लगभग आधी शताब्दी व्यतीत कर लेने से बहुत कुछ विकसित एवं समुन्नत हो जानी चाहिये थी। किन्तु दुर्भाग्य से इस अमूल्य साधन की ओर न धनवानों का ही और न विद्वानों अथवा अन्य संस्कृति-प्रेमियों का ही कोई ध्यान है। सब से बड़ी समस्या संभवतया धन की हो रही है। दूसरी, जो बहुत कुछ अर्थाभाव से ही संबंधित है, ऐसे सुयोग्य विद्वान् की है जो संस्था का कार्य सुव्यवस्था पूर्वक सञ्चालन कर सके। उसके लिये अपना जीवन समर्पण कर देने वाला कोई महाभाग पूरी लगन के साथ यहाँ बैठकर कार्य करने को तत्पर हो, तभी यह संस्था सार्थक हो सकती है। इसके मुख पत्र भास्कर और एंटीक्वेरी भी समुन्नत रूप से नियमित निकल सकते हैं। तभी यह सिद्धान्त भवन अपने महामना स्वर्गीय संस्थापक के सदुद्देश्य की पूर्त्ति और विद्याप्रेमियों की अभिलाषा की सिद्धि कर सकता है। जिन आधारों पर इस संस्था की नींव रक्खी गई थी और जिस प्रकार कई प्रारंभिक दशकों में इसने प्रगति की यदि युग की बढ़ती हुई रफ़्तार के साथ उस प्रगति में भी आवश्यक वेग आया होता तो अब से बहुत पहले वह पूना के भंडारकर प्राच्य विद्या मंदिर, बड़ौदा के गायकवाड़ प्राच्य विद्या संस्थान आदि शीर्षकोटीय भारतीय सांस्कृतिक अनुसंधानशालाओं के समकक्ष एवं सर्व विश्रुत बन जाती।

भारतीय नव चेतना का प्रतीक जैन-सिद्धान्त-भवन

श्रीयुत् डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, एम. ए., पी-एच. डी., व्याकरणाचार्य

आरा नगर का जैन सिद्धांत भवन, हर्ष है कि सन् १९६३ में ही अपने ६० वर्ष पूरे कर रहा है। उसका हीरक जयन्ती महोत्सव जैन मात्र के लिए ही नहीं अपितु प्रत्येक भारतीय के लिए प्रसन्नता की बात है। यह संस्थान भारतीय पुनरुत्थान की अमरवेला में सुदीर्घ निद्रा से जागृत भारत माता के सपूतों की उन चिरस्थायी प्रवृत्तियों का प्रतीक है, जिनपर हर एक भारतीय को गर्व है। जैन-सिद्धान्त-भवन की साहित्यिक समृद्धि बिहार प्रान्त की ही नहीं, प्रत्युत सारे देश की गौरव निधि है।

यहाँ राष्ट्रीय जीवन के धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अंगों के पोषक उन हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह जो सदियों की गुलामी के बाद, सन १७०७ से १८५७ त तक डेढ़ सौ वर्षों में व्यापक भीषण अराजकता के बाद सुरक्षित रह सके थे। इस अराजकता काल में जन ज वन की असुरक्षित दशा में भारत का धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन अधिकांश में तिरोहित हो गया था। विदेशियों ने देश की माली सम्पत्ति के साथ साहित्यिक सम्पत्ति को लूटना प्रारंभ कर दिया था। १८५७ के गदर के बाद और १९ वी शताब्दी के अन्तिम दशकों के आते आते सर्वत्र भारतीय जीवन में नव जागरण एवं पुनरुत्थान के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। देश में आन्तरिक शान्ति के साथ, शिक्षा प्रसार और धार्मिक-सांस्कृतिक उत्थान का वातावरण बनने लगा था। ऐसे ही काल में सन् १९०३ में जैन सिद्धान्त भवन की स्थापना की गई। इसके पीछे संस्थापकों की वही पवित्र भावना काम कर रही थी, जिस भावना ने राष्ट्रीयता की चेतना पैदा की थी।

जैन धर्म भारतीय समाज के प्रमुख धर्मों में से एक है। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण परम्परा की त्रिवेणी से भारतीय जीवन आदिकाल से ओतप्रोत है। इन तीनों का सांगोपाङ्ग ज्ञान ही भारतीय मानस को अच्छी तरह समझने में सहायक है। नव जागरण के आदिकाल में जैन परम्परा के अनेक अग्रदूतों में से आरा जैन समाज के उत्साही नेता राजर्षि देवकुमार, कुमार देवेन्द्र प्रसाद और जैनेन्द्र किशोर आदि ने जैन साहित्य और संस्कृति की बहुमुखी उन्नति करने के लिए जो योजनाएं बनाई थीं उनमें से एक प्रमुख योजना थी Central Jain Oriental Library की। यह उनकी उच्च-स्तरीय उदात्त भावनाओं का परिस्फुटन था, जिनके द्वारा वे अनुसंधान एवं वैज्ञानिक ढंग

से सम्पादित ग्रन्थों के प्रकाशन द्वारा उन अमूल्य साहित्यिक निधियों को देश विदेश के विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते थे, जिनसे भारतीय गौरव प्रकट हो। हस्तलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त मुद्रित अनेक प्रकार के ग्रन्थ अनुसंधान के लिए उपयुक्त पत्र पत्रिकाओं का संकलन इस बात का सबल प्रमाण है कि योजना व्यापक और प्रभावक थी तथा इन साठ वर्षों में वह सचमुच उस विशाल रूप को धारण कर लेती जिसकी कल्पना की गई थी, काश यदि "जैन सिद्धान्त भवन" को आर्थिक संकट के दुर्दिन न देखने पड़े होते।

आज इस भवन में वे तत्त्व पूर्ण रूपेण विद्यमान है, जिनसे इसे एक **Central Jain Oriental Library** के रूप में आधुनिक ढंगों से विकसित किया जा सकता है और अनुसंधान संस्था की स्थापना के साथ इसे द्रुतगति से बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए समाज के साथ देश की राष्ट्रीय सरकार से भी अधिक आशा है कि इसकी उन्नति में पूर्ण सहयोग करे। मैं इस हीरक जयन्ती पर उन उदात्त संस्थापकों की भावना का मूर्तिमान रूप देखना चाहता हूँ और मेरे द्वारा यत् किंचित् सहयोग की आवश्यकता होगी तो उसे देने में पीछे न हटूँगा। वस्तुतः यह संस्था आज भी इतनी समृद्ध है कि इससे शोधकार्य सुचारुरूप से सम्पन्न किया जा सकता है। इसमें सहस्रों ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों के साथ अभिधान एवं कोष सम्बन्धी सामग्री भी प्रचुर परिमाण में वर्तमान है। अतः इसे शोध संस्थान का रूप तुरन्त प्राप्त होना चाहिए।

भवन के सांस्कृतिक स्तर

श्रीयुत् श्रीराम तिवारी, एम० ए०, प्रखण्ड विकासाधिकारी

नगर का जीवन अपने भावात्मक प्रतिरूपों में अभिव्यक्ति पाता है। नगरों में होनेवाली व्यस्त जिन्दगी की विरासत इन्हीं प्रतिरूपों में आकर अपनी असांस्कृतिक गंध उतारती है और पूरा नगर पारदर्शी हो जाता है। मसलन, किसी नगर का अध्ययन वहाँ की भीड़ नहीं है—नगर के लोग है, उनके भीतर की परिष्कृत सुरुचि और सभ्यता की भूख है। इस भूख की तृप्ति के लिये सारा नगर अपनी सांस्कृतिक संस्थाओं का कृतज्ञ बनता है। उन संस्थाओं के माध्यम से नगर का पूरा पट-चित्र उभर कर झलक जाता है। नगर के साथ हमारे आत्म-परिचय का प्राणोत्सव बनती है नगर की संस्थाएँ; जिनके भीतर जीवन के सांस्कृतिक पटल खुलते है

मेरे सामने आरा, अपने छोटे आत्म-नगर के अनेक सांस्कृतिक पटल खुल रहे है—आरा का चामत्कारिक सम्मोहन मुझे अपनी प्रसन्नता-भरी सन्ध्याओं, उड़ती पतंगों और दिहाती परिवेश की सौगंध देता है कि मैं उसके एहसानों की असीमता का शुक्रगुजार रहूँ। यहीं से मेरा नगर मेरे भीतर शुरू होता है, जैन सिद्धान्त-भवन के कपूरी आलोक से भरे कमरों से।

आरा का यह "भवन" जैन संस्कृति का अकेला भावात्मक प्रतिरूप है, जिसकी व्याप्ति जीवन के सांस्कृतिक पक्ष के हर महोत्सव और साधना के लिये आरा के भीतर है और आरा के बाहर पूरे देश में, भारतीय श्रमण संस्कृति के पुजारी देशों तक। मैं भवन के साथ अपने अनेक रागात्मक सम्बन्धों के लिए जुड़ा हूँ। मेरे चाचा (डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री) के व्यक्तित्व का, समय और मनोयोग का अधिकांश भाग भवन के लिये अर्पित रहा है—मैं उन्हीं के माध्यम से भवन की मूर्त्त और पवित्र सोद्देश्यता के दर्शन बचपन से करता आ रहा हूँ। कृतित्व की सनातन प्यास और संस्कृति की महती संभावनाओं को समय की दौर के साथ ले चलने का कार्य जातीय जीवन का प्रतिपाद्य कार्य है, जो भवन कर रहा है। यह "करना" अपने देश भारत में श्रमण संस्कृति की असाधारण उपलब्धि है। भवन के नाते यह गौरव आरा को प्राप्त है जो इस छोटे नगर को केन्द्रीयता प्रदान कर देता है। भवन के स्वरूप की परिकल्पना जिस परिवार के क्रांतद्रष्टा महापुरुष में बिम्बित हुई, वे है महर्षि देवकुमार जैन। आरा जैनधर्म का तीर्थ तो है ही, पर भवन के कारण वह "ज्ञान-तीर्थ" भी है। वास्तुकला के संगमर्मरी स्पर्श में एक जीवित ज्ञान और सिद्धान्त को इस भवन द्वारा मूर्त्त कर दिया गया है। स्वर्गीय बाबू

निर्मलकुमार जैन और स्व० बाबू चक्रेश्वरकुमार जैन, जिनकी विलक्षण संगठन-शक्ति और प्रतिभा की अभिव्यक्ति का प्रतिफल आज का भवन है, मातेश्वरी चन्दाबाई जैन जिनकी आध्यात्मिक चेतना का उद्गीय भवन मे होनेवाले धार्मिक कार्य हैं, श्रीसुबोधकुमार जैन जिनका साहित्यिक और कलात्मक सम्मान भवन को पीठात्मक सुदृढता देने के लिये कृत-संकल्प है—यह एक पूरी पारिवारिक शृङ्खला है, जो भवन के विकास और प्रसार के पीछे काम कर रही है। सांस्कृतिक ग्रन्थों को सुरक्षित रखने वाले ऐसे परिवार की देन आरा का जैन सिद्धान्त-भवन एक "मिशन" है। भवन के नानाविध सांस्कृतिक स्तरों के विवेचन के पूर्व, भवन पीछे की पृष्ठभूमि हमे भवन के सांस्कृतिक महत्त्व और सौन्दर्य को समझने की दिशा मे रूपान्तरित करती है। यह पृष्ठभूमि भवन को वास्तु-कला के एक प्रतिरूप स्तर से उठाकर उसकी तात्त्विक स्थिति के साथ हमारी मानसिक संवृत्ति स्थापित करती है। भवन के नाम "जैन सिद्धान्त-भवन" की यही सार्थकता है। चेतना और सिद्धान्तों के तत्त्व-सेतु भवन के कार्यों और उपयोगिताओं से निर्मित है। ये तत्त्वसेतु ही भवन को वर्त्तमान श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति का अंग बना बना देते है। भवन का नियोजन जैन धर्म और संस्कृति की ऐतिहासिक चेतना का प्रतीक है।

भवन की उपयोगिता और कार्यों के अनेक सांस्कृतिक स्तर है। इतिहास और दर्शन के विश्व-ज्ञान का संग्रह भवन का पहला स्तर है। इन विषयों के शोध की इतनी अधिक सामग्री भवन मे मिल जाती है, जिसने विदेशी शोध-विद्वानों को भी अहिसा, दर्शन की भारतीय दृष्टि, ऐतिहासिक-साहित्य के विशिष्ट अध्ययन के लिये समय-समय पर हमेशा आकर्षित किया है। ऐसी पुस्तकों मे अधिकांश अंग्रेजी एवं संस्कृत, प्राकृत भाषा की पुस्तकें है जिनसे उनके कार्य में विशेष सुविधा होती है। भवन की सामग्री के ही आधार पर शोध ग्रन्थ तैयार हुए हैं और पुस्तके सम्पादित हुई है। जैन दर्शन, कला, धर्म आदि से सम्बन्धित पुस्तकों का चुना हुआ संकलन भवन में जैन संस्कृति के सम्पूर्ण अध्ययन की सामग्री का परिवेश प्रस्तुत करता है। इन्हीं की कोटि मे ५ हजार से अधिक वे हस्तलिखित ग्रन्थ और ताड़पत्र भी आते है जो भवन की सबसे बड़ी और पुनीत उपलब्धि हैं। इन हस्तलिखित ग्रंथों का विषय सम्पूर्ण जैन संस्कृति के मर्म को उद्घाटित कर देता है—इन ग्रंथों में कुछ ऐसे भी ग्रंथ है जिनका अभी मुद्रण नहीं हुआ है। संस्कृति के विकासमान पुरातन आलोक का यह संग्रह जो भारत के कोने-कोने से धन-राशि व्यय कर किया गया है—महत्त्वपूर्ण और अनोखा है। जैन संस्कृति के हर पत्र को वैज्ञानिक दृष्टि से सामने लाने का और मूल्यांकित करने का कार्य भवन

द्वारा संचालित और प्रशंसित "जैन सिद्धान्त भास्कर" (हिन्दी) और "जैन एंटीक्वेरी" (अंग्रेजी) है जिसको अन्तर्राष्ट्रीय वितरण और अनुपम शोध पत्रिका की ख्याति प्राप्त है। उच्च कोटि के विद्वान् इसके सम्पादक हैं। भवन की उपयोगिता का यह दूसरा सांस्कृतिक स्तर भवन को विश्व-संस्कृतियों के अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के मंच पर रख देता है-संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये इस दृष्टि से भवन का महत्व असाधारण है। भवन का सिक्कों, पत्रों और चित्रों का छोटा संग्रहालय इसी स्तर के भीतर आता है। भवन ने अपने इसी स्तर पर कई पुस्तकों का स्वयं प्रकाशन भी किया है।

पुस्तकालय के रूप में भवन का तीसरा सांस्कृतिक स्तर निर्मित होता है। दैनिक साप्ताहिक, मासिक पत्रिकाएँ, शोध-पत्रिकाएँ देश-विदेश से भवन में आती रहती है—नियमित रूप से नागरिकों द्वारा इसका पठन-पाठन भवन द्वारा रुचि के परिष्कार और ज्ञान संवर्द्धन के अवसर को देनेवाला कार्य है।

भवन के कक्ष का उपयोग जिन अनेक सांस्कृतिक अवसरों के लिए होता आया है, वह भवन का चौथा और अन्तिम सांस्कृतिक स्तर है। भवन स्वयं में पूर्ण जिला हिन्दी-साहित्य संगठनों, पुस्तकालय संगठनों, कला-प्रदर्शनियों के लिये प्रस्तुत मंच का कार्य करता है—ऐसी अनेक जिला-स्तर की साहित्य-संस्थाओं का भवन प्रधान कार्यालय है—जिसमें प्रमुख शाहाबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन, साहित्य मंडल, कला-मण्डल, शाहाबाद लेखक कॉंग्रेस, जिला पुस्तकालय संघ आदि है। इन संस्थाओं की हजारों महत्वपूर्ण और छोटी गोष्ठियाँ भवन में हो चुकी हैं जिनमें देश-विदेश के अनेकों विद्वान आ चुके है। हिन्दी के ऐसे विद्वानों में प्रमुख है आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद, डॉ० देवराज, डॉ० माधव, महाकवि प्रभात नलिनविलोचन शर्मा, शिवपूजन सहाय, जैनेन्द्रकुमार, डॉ० नामवर सिंह आदि। भवन में विदेशी विद्वानों के पदार्पण का उपयोग भी ये संस्थाएँ करती आ रही है। जैनधर्म से सम्बन्धित अनेक सम्मेलन, भजन गोष्ठियाँ, प्रवचन भवन में हुए है जिनमें अनेक जैन विद्वान, जैन मुनि, एवं जैन शोधछात्र आये है। भवन में संचालित ऐसे हर कार्यक्रम से आरा का नागरिक जीवन भवन के माध्यम से प्राणित रहा है। भवन की उपयोगिता का यह सांस्कृतिक स्तर सब से अधिक परिपुष्ट और जीवन को महिमान्वित करने वाला है।

भवन की हीरक-जयन्ती के अवसर पर भवन के इन सांस्कृतिक स्तरों का स्पष्ट उद्घाटन हमें भवन के प्रति आंतरिक श्रद्धा और उसके कार्यो में सच्ची रुचि के लिये अनुप्रेरित करता है। भवन जैसी महान राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ देश में

बहुत कम हैं—यह बात भवन की स्थिति को और महत्वपूर्ण कर देती है। एक सांस्कृतिक तीर्थ के रूप मे भवन की मान्यता को हम प्रणाम करते हैं और कामना करते हैं कि इसके वर्त्तमान संचालकों द्वारा भवन की उपलब्धि और कार्यों में उत्तरोत्तर वृद्धि का प्रयत्न हो। एक अर्द्धसरकारी शोध-पीठ और प्रकाशनसंस्था के रूप में भवन की मान्यता इसकी हीरक-जयंती के अवसर पर भवन की वास्तविक सम्मति हो सकती है जिसकी ओर हमारी स्वतंत्र सरकार का भी ध्यान गया है। सरकारी अनुदान भवन द्वारा संग्रहीत हजारों अमुद्रित पुस्तकों का प्रकाशन ज्ञान के छिपे अनेक अङ्गों को उद्घाटित कर सकता है।

—:०:—

कन्नड पंचतंत्र और जैनधर्म

श्रीयुत्—विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री

संस्कृत साहित्य के अनुपम रत्न पंचतंत्र से सभी सुपरिचित हैं। संस्कृत पंचतंत्र का एक कन्नड रूपांतर भी है। इस कन्नड रूपांतर का कर्ता महाकवि दुर्गसिंह है। इसमें जैनधर्म से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बाते हैं। इसके लिए दुर्गसिंह के पंचतंत्र को एक बार आमूलाग्र देखना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

श्री० ए० वेंकटसुब्बय्य के मत से संसार में अनेक भाषाओं एवं स्थलों में प्रचलित कुल पंचतंत्रों को हम मूल कथाओं की दृष्टि से दो ही पंचतंत्रों में बांट सकते हैं। पहला विष्णु शर्मा का और दूसरा वसुभाग भट्ट का। संस्कृत में प्रकाशित विष्णुशर्मा का पंचतंत्र सुप्रसिद्ध है। हाँ, वसुभाग भट्ट का पंचतंत्र अभीतक अनुपलब्ध है। विद्वानों के मत से भट्ट वसुभागीय पंचतंत्र संख्या में चार हैं। इनमें से तीन का पता तो जावा में लग चुका है। इन तीनों में से दो पद्यों में हैं, एक गद्य में। चौथा ग्रंथ महाकवि दुर्गसिंह का यह कन्नड पंचतंत्र है। दुर्गसिंह ने अपने ग्रंथ के प्रथम भाग में वसुभाग भट्ट का नाम स्पष्ट उल्लेख किया है। यह कन्नड पंचतंत्र गद्य-पद्य- मिश्रित चंपू रूप में है।

उपर्युक्त विचार से विदित होता है कि वसुभाग भट्ट के पंचतंत्र के आधार पर रचित गद्य ग्रंथो में से एक जावा का है, दूसरा कन्नड का है। श्री हूयकास [HOOYKAAS] के मत से जावा में प्राप्त गद्य पंचतंत्र का काल ई० सन्० १२०० से अधिक नहीं है। कन्नड पंचतंत्र का काल "जैन सिद्धान्त भवन आरा" की प्रति के आधार पर मित्रवर स्वर्गीय एम० गोविन्द पै की राय से ई० सन्० १०३१ मार्च ८ है। भवन की इस प्रति को, एम० गोविन्द पै को मैंने ही दिया था। लेख के इस काल निर्णय से अत्यन्त प्राचीन इस कन्नड पंचतंत्र का महत्त्व विज्ञ पाठकों को स्वयं ज्ञात हो जायेगा। एक बात है कि इस समय वसुभाग भट्ट की कृति के गुणों को मापने के लिए निरुपाय दुर्गसिंह के पंचतंत्र को ही हमें मानदण्ड बनाना अनिवार्य होगा।

मुख्यतया जैनधर्म एवं कई स्वतंत्र कथाओं के सम्बन्ध में विष्णुशर्मा के पंचतंत्र और कन्नड पंचतंत्र में भेद हैं। दुर्गसिंह के ग्रंथ में प्रकरण—"भेदप्रकरणतंत्र" में जैनधर्म सम्बन्धी अनेक बातें मिलती है। मालूम होता है कि जैनधर्म के मन्तव्यों को प्रकट करने के लिए ही इसमें इस तंत्र को स्थान दिया गया था। राजकीय एवं सामाजिक विचारों के साथ-साथ इसमें जैनधर्म की बाते भी स्पष्ट प्रकट होती हैं।

पिंगलक सिंह जंगल में राजा होता है। सिंह स्वभाव से हिंसक प्राणी है। वह एक बार एक भयंकर शब्द को सुनकर घबरा जाता है। थोड़े समय के बाद संयोगवश पूर्व में शब्द करने वाले सांड के साथ सिंह का मित्रत्व होता है। सांड सिंह को कई ढंग से उपदेश देता है। सबसे पहले वह सिंह को धर्म का ही रहस्य बतलाता है। इस धर्म रहस्य में जैनधर्म के सिद्धान्त का सार ही भरा रहता है। जैनधर्म की भवावली [जन्म परंपरा] की ही तरह इसमें भी पूर्व जन्म की भवावली मिलती है। वह इस प्रकार है :—

पिंगलक पूर्वभव में सिंहवर्मा नामक राजा था। वह गुरूपदेश को न सुनकर पंचाग्नि तप से अपने भाव को बिगाड़ कर रौद्र-ध्यान से मरकर सिंह हुआ। सांड भी पूर्व भव में मनुष्य जन्म पाकर तप करते समय पूर्वसंचित कर्म की आधिक्यता से केवल-ज्ञान को न पाकर एक तापस कन्या को बुरी दृष्टि से देखने के कारण शापग्रस्त हो, पशु योनि मे पैदा हुआ। फिर भी उसने दया-याचना के कारण धर्मश्रवण करनेवालों के ही घर पर जन्म लिया। यही कारण है कि सांड सिंह को उपदेश दे रहा है। इस प्रकार सांड सिंह को जैनधर्म के अहिंसा-सिद्धान्त को अच्छी तरह से समझाता है। सिंह सांड की इन सब बातों को सुनकर अहिंसावादी हो, सहर्ष अहिंसाव्रत को धारण करता है। प्रथम तंत्र का सार यही एक कथा है। पंचतंत्र के पाँच तंत्रों में पहला तंत्र ही सबसे बड़ा है और कवि ने इसीको विशेष महत्त्व भी दिया है।

अहिंसा सम्बन्धी वार्तालाप में सिंह सांड से पूछता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय पशुयज्ञ क्यों करते हैं ? सांड इसका जवाब इस प्रकार देता है : ब्राह्मण और क्षत्रिय वेदविहित कर्मानुष्ठान में तत्पर रहने का कारण केवल अतिथि एवं पितृदेवतानिमित्त विधिवत् प्राणिहिंसा करते है, न कि वृथा। उन्हें इस अनुष्ठान से निस्संदेह पुण्य प्राप्त होता है। पर यह बात बहुत खटकती है। यह विचित्र तत्त्व जैन सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में बुलहर एवं डा० जकोबी आदि जैनेतर विद्वानों का मत है कि जैनधर्म प्रायः ब्राह्मण धर्म का समीपवर्ती धर्म रहा होगा।

परंतु मै इस बात से सहमत नहीं हूँ। क्योंकि जैनधर्म सदा से अहिंसा-धर्म को अविकल पालता आ रहा है। उल्लिखित बात का हेतु और ही कुछ होना चाहिए। इस हेतु को खोजना अन्वेषक विद्वानों का काम है। इसके लिए सबसे पहले मूल को देखने की बड़ी जरूरत है। क्योंकि कन्नड पंचतंत्र का कर्ता दुर्गसिंह ब्राह्मण कवि था। संभव है उसने अपने धर्म की कुछ बाते इसमें जोड़ दी हों। विशाल जैन साहित्य में ऐसी कृतियों की कमी नहीं है। इसके लिए "त्रैवर्णिकाचार" आदि ग्रंथ भी साक्षी हैं।

इसमें "मनुस्मृति" आदि ब्राह्मण ग्रंथों के पद्य ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। कन्नड पंचतंत्र के प्रथम प्रकरण मे भवावली, अहिंसा आदि विषयों के अतिरिक्त ईश्वर, धर्म आदि और-और भी विषय सम्मिलित हैं। इन सबों का सार एक मुनिमहाराज ने एक ही पद्य में बहुत ही सुन्दर ढंग से समझाया है। अपरिचित भाषा होने के कारण अशुद्ध छपने के भय से मैंने इस लेख में कोई भी कन्नड पद्य उद्धृत नहीं किया है। अतः यहाँ पर मैं इस पद्य को भी उद्धृत नहीं कर रहा हूँ।

द्वितीयतंत्र "परीक्षाव्यावर्ण" मे एक व्यापारी की कथा है। इस कथा में भी जैन-धर्म का विषय है। सवण अर्थात दिगंबर मुनि आहारार्थ व्यापारी के घर पर आते हैं। व्यापारी उनकी पूजा करके मुनि महाराज से सुवर्ण राशि को मांगता है। इसी तंत्र में अजित की भी कथा है। अजित यह नाम जैन तीर्थंकर का है। इसी प्रकार जैनों के अनेक नाम पंचतंत्र की कई कथाओं में उपलब्ध होते हैं।

पंचतंत्रांतर्गत जैनधर्म सम्बन्धी विचारों से वसुभाग भट्ट जैनधर्मानुयायी सिद्ध होता है। बल्कि कतिपय विद्वानों की भी यही राय है। दुर्गसिंह गौतम गोत्रीय स्मार्त ब्राह्मण था। ब्राह्मण दुर्गसिंह ने वसुभाग भट्ट की इस कृति को क्यो रूपांतरित किया यह एक प्रश्न है। संभव है कि तत्कालीन प्रभाव ही इसका प्रधान हेतु था। दसवीं शती आदिकवि पंप का युग था। वह युग जैनधर्म के प्राबल्य का युग रहा। इसी युग में कन्नड में जैनपुराणों की सृष्टि हुई। दुर्गसिंह ग्यारहवीं शती का कवि था। यह भी पंपयुग में ही सम्मिलित था। मुख्यतः तत्कालीन प्रभाव से प्रभावित हो, दुर्गसिंह ने जैनों के संपत्तिरूप चंपू में जैनधर्मानुयायी वसुभाग भट्ट के पंचतंत्र को कन्नड में रूपान्तरित किया होगा।

ऊपर लिख चुका हूँ कि पंचतंत्र में प्रथम प्रकरण ही सबसे बड़ा है और इसमें जैनधर्म की बातें विशेष रूप में पाई जाती है। यही कारण है कि पंचतंत्र में जैनधर्म के तत्त्व अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। इसकी एक संस्कृत टीका भी है। जिनपति-सूरिशिष्य पूर्णभद्रसूरिकृत "पंचाख्यानक" नामक पंचतंत्र की इस टीका से इटलि के विद्वान् हर्टल महोदय विशेष मुग्ध है। अब एक प्रश्न उठ सकता है कि भारत का यह पंचतंत्र मलाया में कैसे पहुँच गया। मलाया की क्या बात है हमारी कथाएँ योरोप तक गयी हैं। इस विषय में टूवाइनी का अभिप्रायः इस प्रकार है :

"योरुप की जिन कथाओं मे यहाँ की जैन कथाओं के साथ समता है, वे भारत वर्ष से ही योरुप ने ली है। वस्तव में ये कथाएँ परसिया होकर योरुप पहुँची होंगी। अब लोग इस बात का अपलाप नहीं करते कि विविध कथाएँ भारत से योरुप आयी

थीं, वस्तुतः धर्मप्रचारकों, प्रवासियों, धर्मयुद्धों और आक्रमणों आदि महायात्राओं के समय ही भारतीय जैन कथाओं की धारा योरुप की ओर बही थी।" इस पर प्रा० कालीपद मित्र की राय सुन लें। "भारतीय साहित्य के सफल निर्माता राज्यसभाओं द्वारा ही ये कथाएँ भारत से बाहर गयी होंगी। यह निश्चित है कि भारतीय धर्मकथा-मय योरुपीय कथाएँ भारत से ही गयी थीं। पूर्व भारत के समान उत्तर तथा पश्चिम भारत की कथाएँ भी योरुप पहुँची है। यहूदियों की कितनी ही कथाओं का उद्गम-स्थान भारत था। भारत में कथा-साहित्य का भी आदान-प्रदान रहा। इसलिए कितनी ही जैन कथाएँ बौद्ध साहित्य में पायी जाती है और बौद्ध धर्म के साथ वे तिब्बत, रूस ग्रीस, सिसली, इटलि आदि देशों तक चली गयी है। वास्तव में भारतीय कथा-साहित्य में धर्मभेद नहीं है तथा समस्त धर्मों के कथा-साहित्य को भारतीय कथा कहना ही उपयुक्त होगा।" बस इस विषय में इतना जवाब पर्याप्त है।

चन्द्रवाड

श्रीयुत् पं० परमानन्द शास्त्री, देहली

चन्द्रवाट, चन्दावर और चन्द्रवाड नाम का एक प्रसिद्ध नगर यमुना नदी के तट पर बसा हुआ था, जो आज प्राचीनध्वंसावशेषों—खण्डहरों के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अतीत की उस झाँकी को प्रस्तुत कर रहा है कि हम भी किसी समय श्रीसम्पन्न और समुन्नत थे; किन्तु काल की कराल गति से आज हमारा वैभव भूगर्भ में स्थित है। कहा जाता है कि विक्रम सं० १०५२ में चन्द्रपाल नाम के एक जैन पल्लीवाल राजा की स्मृति में इस नगर को बसाया गया था[1]। जिसका दीवान रामसिंह हारुल था[2]।

चन्द्रवाट में विक्रम की १३ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक चौहानवंशी राजाओं का राज्य रहा है। जो अजमेर के चौहानवंशी राजाओं के वंशधर थे। इन राजाओं ने केवल चन्द्रवाड़ पर ही शासन नहीं किया, प्रत्युत इटावा, और उसके समीपवर्ती भूभाग पर भी शासन किया है, उनमे हतिकान्त, रायवद्दिय (राजभद्र) रपरी; कुरावली, मैनपुरी, और भोगाॅव आदि स्थान है, जिन पर उनका शासन १६ वीं शताब्दी तक तो रहा ही है, किन्तु कहीं कहीं कुछ बाद में भी रहा है। इन राजाओं के शासन काल में जैनधर्म का खूब उत्कर्ष रहा है, क्योंकि इनके मंत्रीगण प्रायः जैन ही रहे हैं, उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता से राज्यकार्य का संचालन किया है।

विक्रम की १४ वी १५ वीं शताब्दी में रचे गये अपभ्रंशभाषा के ग्रन्थों में चौहान वंश के राजाओं का उल्लेख है[3]।

१—हिन्दी विश्वकोष के भाग ७ पृ० १७१ में लिखा है कि चन्द्रपाल इटावा अंचल के एक राजा का नाम था। कहा जाता है कि रामचन्द्रपाल ने राज्यप्राप्ति के बाद चन्द्रवाड मे स० १०५३ मे एक प्रतिष्ठा कराई थी। इनके द्वारा प्रतिष्ठापित स्फटिक मणि की एक मूर्ति जो एक फुट की अवगाहना को लिये हुए आठवें तीर्थङ्कर की थी और जिस यमुना की मध्य धारा में से निकाल कर फिरोजाबाद में सोत्सव लाया गया था, अब फिरोजाबाद के मन्दिर में विराजमान है।

२—चन्द्रपाल का दीवान रामसिंह हारुल लबकु चुक (लमेचू) आम्नाय का था। उसने वि० सं० १०५३ और स० १०५६ में कई मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा चन्द्रवाड मे कराई थी जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है :—

१ देशी पाषाण बादामीरंग २ फुट की मूर्ति—स० १०५३ वैशाखसुदि ३ रामसिंह हारुल...।

२ देशी पाषाण बादामी रंग ३ फुट ऊँची मूर्ति—स० १०५६ अगहन सुदि ५ गुरौ सिंधौ... कान्त्यावलिकनकदेव. सुतः कोव:......।

३ देशी पाषाण सवातीन फुट—ओं मनु सं० १०५३ वैशाखसुदि ३......।

३—देखो, जैनग्रंथ प्रशस्तिसंग्रह द्वितीयभाग, वीर सेवामन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली

विक्रम की १३ वीं शताब्दी में (वि० सं० १२३० में) चन्द्रवाट या चन्द्रवाड निवासी माथुरवंशी साहु नारायण और उनकी धर्मपत्नी रूपिणी देवी ने जो देव-शास्त्र और गुरुभक्त थी, संसार वर्धक कथाओं को सुनने में विरक्त थी, उसने श्रुतपंचमी के उपवास-सम्बन्धी फल को प्रकट करनेवाले भविष्यदत्त कुमार के जीवन-परिचय को व्यक्त करनेवाली 'भविष्यदत्तकथा' कवि श्रीधर से लिखबाई थी[४]। यद्यपि कवि श्रीधर ने ग्रन्थ प्रशस्ति में उस समय चन्द्रवाड के राजा के नामादिक का उल्लेख नहीं किया। अतएव निश्चयतः यह कहना कठिन है कि उस समय वहाँ किसका राज्य था। पर उस समय चन्द्रवाड समृद्ध था और वहाँ हिन्दू जनता के साथ जैन जनता भी अपने धर्म का साधन करती थी। उसके कुछ समय बाद अर्थात् सन् ११९४ (वि० सं० १२५१) में शहाबुद्दीनगौरी ने–जब वह बनारस और कन्नौज की ओर जा रहा था, रास्तेमें उसकी चन्द्रवाड में जयचंद गहडवार से मुठभेड़ हो गई थी, जिसमे राजा जयचन्द्र हाथी के हौदे पर बैठे हुए सैन्य संचालन कर रहे थे, सहसा शत्रु का एक तीर लगने से मृत्यु को प्राप्त हुए, किन्तु उसके पुत्र हरिश्चन्द्र ने कन्नौज का गढ़ अपने हाथ से नहीं जाने दिया[५]। मुहम्मदगौरी जयचन्द्र को विजित कर १४०० ऊंट लूट के माल से भरवा कर ले गया था[६]।

चौहानवंशी राजाओं के राज्यकाल में जैनधर्म

चौहानवंशी राजाओं के शासनकाल में चन्द्रवाड़ जन-धन से परिपूर्ण एक अच्छा शहर हो गया था। आगरा से इटावा, कन्नौज और इनके आस-पास के मध्य-वर्ती भूभाग पर इनका शासन रहा है। इनके समय में लंबकंचुक और जैसवाल आदि जैनकुलों के श्रेष्ठीजन उनके दीवान होते थे, जो जैनधर्म के अनुष्ठाता और धर्मात्मा थे। इस कारण चन्द्रवाड़ और उसके आस पास का प्रदेश जैनसंस्कृति का केन्द्रस्थल बन

४—णरणाह विक्कमाइच्चकाले, पवहतए सुहय रए विसाले।
बारहसयवरिसहि परिगएहिं, दुगणियपणरह वच्छरजुएहिं॥
फग्गुण-मासम्मि वलक्ख पक्खे दसमिहि दिणे तिमिरुक्कर विवक्खे।
रविवारसमाणिउ एक सत्थु, जिहमइ परिमाणिउ सुपसत्थु॥

भविसयत्तकहा

५—देखो, राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द दूसरा संस्करण और Shahabudin met him at Chandawar in the Etawah District near the Yamuna and having defeated his host with immense Slaughter. The Early History of India P. 400

६—देखो मछली शहर का शिलालेख तथा ताजिलमासी हसननिजामी, तावकातेनसीरी जि० १ पे० ४७० नसीरुद्दीन मुहम्मद इलियट वाल्यूम १ पृ.५४३-४४।

रहा था, वहाँ जैनियों की अच्छी आवादी थी और अनेक जैन व्यापारी उच्चकोटि के व्यापार द्वारा अच्छे सम्पन्न और राज्यमान थे। अनेक जैनमन्दिरों के उन्नत शिखरों से अलंकृत वह नगर श्रीसम्पन्न था।

वि० संवत १३१३ में कवि लक्ष्मण ने 'अणुवय-रयण-पईव' नाम के ग्रंथ को चन्द्रवाड के चौहानवंशी राजाओं के राज्यकाल में रचकर समाप्त किया था। उसकी आदि अन्त प्रशस्ति में वहाँ के राजाओं और राजमंत्रियों की परम्परा का विवेचन किया गया है[७]।

कवि लक्ष्मणसेन ने जो स्वयं जायसवाल थे, अपने ग्रंथ में चन्द्रवाड के चौहानवंशी राजाओं की परम्परा, और जैन मंत्रियों आदि का परिचय निम्न प्रकार अङ्कित किया है। भरतपाल अभयपाल, जाहड और श्रीवल्लाल नामके राजा हुए। श्रीवल्लाल के पुत्र आहवमल्ल थे, जिन्होंने 'रायवद्दीय' नामक नगर में शासन किया था। वह चन्द्रवाड का ही एक शाखा नगर था। जिसकी स्थापना वि० सं० १३१३ से पूर्व हो चुकी थी। क्योंकि जिस समय उक्त आहवमल्ल वहाँ राज्य कर रहे थे, तब उनके प्रधानमंत्री लंबकंचुककुल (लभेचू) मणिसाहू सेठू के द्वितीय पुत्र थे, जो मल्हादेवी के पुत्र थे, बड़े बुद्धिमान और राजनीति में दक्ष थे। इनका नाम कण्ह या कृष्णादित्य था। श्रीवल्लाल के बाद चन्द्रवाड के राजाओं का इतिवृत्त इस ग्रंथ से ज्ञात नहीं होता। चन्द्रवाड चौहानवंश के उक्त चार राजाओं के समय एक महत्त्वपूर्ण नगर के रूप में प्रसिद्ध था। उसकी महत्ता का एक कारण यह भी था कि उस समय वह व्यापार का एक केन्द्र भी बना हुआ था। बाहर के लोग चन्द्रवाड में यमुना नदी को पार करके ही आ सकते थे, और उसे नौकाओं द्वारा पार करना होता था; क्योंकि नगर यमुना नदी से घिरा हुआ था, वहाँ सैकड़ों नौकाएँ और नौका संचालक नाविक रहते थे। उनके द्वारा ही माल का आयात निर्यात होता था, बडे बड़े व्यापारी वहाँ बसते थे, व्यापार से खूब अर्थोपार्जन होता था, उससे राज्य और जनता दोनों को अर्थ लाभ होता था। उसकी यह समृद्धि विरोधी राज्यों द्वारा ईर्ष्या और द्वेष का कारण बनी हुई थी, अतएव लड़ाई का क्षेत्र भी बना हुआ था। वहाँ अनेक युद्ध हुए थे, इस कारण वहाँ के लोगों को जन-धन की बहुत हानि उठानी पड़ती थी, किन्तु वहाँ का कोट (किला) अत्यन्त सुदृढ था, अतएव शत्रुपक्ष उसपर जल्दी कब्जा करने में समर्थ नहीं हो पाता था। उक्त राजाओं के समय लभेचू वंश के निम्न मंत्री हुए, जो राजनीति के साथ

७ देखो, अणुवय रयणपईव प्रशस्ति। रायवद्दिय नगर यमुना नदी के उत्तर तट पर बसा हुआ था और श्रीसम्पन्न था। वही प्रशस्तिसंग्रह पृ. २७

धर्मनीति का जीवन में आचरण करते थे। राजा भरतपाल के समय साहू लक्ष्मण नगरसेठ के पद पर प्रतिष्ठित थे। और अभयपाल के समय उनके पुत्र अमृतपाल, जो जिनधर्मभक्त, सप्तव्यसनरहित, दयालु, परोपकारी और प्रधानमंत्री थे। राजा अभयपाल की मृत्यु के बाद उनके पुत्र जाहड़ नरेन्द्र के समय भी उन्होंने मंत्रित्व कार्य कुशलता के साथ संचालित किया था। इन्होंने जिनभक्ति से प्रेरित होकर वहां एक एक विशाल जिनमंदिर बनवाया था, उन्नत शिखरों, तोरणों और ध्वजाओं से अलंकृत था। यह विक्रम की १३ वीं शताब्दी के आस पास की घटना है। इनके बाद इनके पुत्र श्रीबल्लाल ने वहाँ शासन किया है। इनके समय अमृतपाल के पुत्र साहू सेढू प्रधानमंत्री हुए। इनकी दो पत्नियाँ थीं। उनमें प्रथम पत्नी से रत्नपाल का जन्म हुआ था, यह व्यापार पटु और गम्भीर प्रकृति के थे और गंभीर थे। इनकी धर्मपत्नी माल्हादेवी से कण्हड या कृष्णादित्य का जन्म हुआ था। यह धर्मात्मा, विद्वान और राजनीति का पंडित था। यही रायवद्दीय (रायसा) राजा आहवमल्ल का प्रधान मंत्री था। यह कुटुम्ब सम्भवतः रायवद्दीय चला गया था। वहां रत्नपाल के पुत्र शिवदेव को अपने पिता की मृत्यु के बाद आहवमल्ल ने नगरसेठ बना दिया था और उसका अपने हाथ से तिलक किया था।

आहवमल्ल एक वीर शासक था। इसने मुसलमानों से युद्ध में विजय प्राप्त की थी। इसकी पट्टरानी का नाम ईसरदे था। इसने रणथंभोर के राजा हम्मीर वीर की शल्य को नष्ट किया था[८]। यह चौहानवंशरूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य के समान था। उस समय रायवद्दिय नगर श्रीसम्पन्न और जैन संस्कृति का केन्द्र बना हुआ था, वहाँ अनेक जैन विशालमंदिर थे। इनके प्रधानमंत्री कृष्णादित्य ने वहाँ के जिनालयों का जीर्णोद्धार किया था और जिन शासन का प्रचार किया था।

वि० सं० १४५४ में चन्द्रवाड में दिल्ली के भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य कवि धनपाल ने "बाहुबली" चरित की रचना की थी[९]। उन्होंने उसमें उससे पूर्व चन्द्रवाड़ की

८ ये हम्मीर वीर चौहानवंशी राजा हम्मीर हैं, जिनका हठ प्रसिद्ध है और जिनका किला 'दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने सं० १३५७ (ई० १३००) में चौहान राज्य वहाँ समाप्त कर दिया था।
यथा— 'पुप्फिच्छ-मिच्छरण रंग-मल्ल, हम्मीर-वीर-मण- णट्ठ-सल्ल ।
चउहाणवंस तामरसभाणु मणियइ ण जासु भुयबल पमाणु ॥ वही प्रशस्ति पृ. २८

९ "विक्कम-णरिंद अंकिण समए, चउदह-सय-संवच्छरहिं गए।
पंचास-वरिस-चउ अहियगणि, वइसाहहो सिय तेरसि-सु-दिणि।
साई णक्खत्तें परिट्ठियइं, वर सिद्धि-जोग-आमें ठियइं ।

स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि– उस समय भी वहाँ चौहानवंशी राजाओं का राज्य था और उस वश के शासक सारंग नरेन्द्र राज्य कर रहे थे[१०], जो संभरीराय के पुत्र थे। अतः सिद्ध है कि उस समय भी उक्त नगर समृद्ध और सुन्दर था, तथा ऊँची ऊँची अट्टालिकाओं से सुशोभित था। तथा साहु वासाधर मंत्री पद पर प्रतिष्ठित थे, जो लंबकंचुक कुल (लमेचू वंश) के थे और सोमदेव श्रेष्ठी के सात पुत्रों में से एक थे। उन्हीं की प्रेरणा एवं आग्रह से कवि ने उक्त ग्रंथ की रचना की थी। कवि धनपाल ने साहु वासाधर का परिचय देते हुए उन्हें सम्यक्त्वी, जिनचरणों का भक्त, जैनधर्म के पालन में तत्पर, दयालु, बहुलोक मित्र, मिथ्यात्व रहित और विशुद्ध चित्तवाला बतलाया है। साथही, आवश्यक दैनिक देव-पूजादि षट्कर्मों मे प्रवीण, राजनीति में चतुर और अष्टमूल गुणों के पालन में तत्पर प्रकट किया है[११]। वासाधर ने भी चन्द्रवाड मे एक जैन मंदिर बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा भी की थी। इनकी पत्नी का नाम "उदयश्री" था, जो पतिव्रता और शीलव्रत का पालन करनेवाली थी, तथा चतुर्विधसंघ के लिये कल्पनिधि थी। इनके आठ पुत्र थे—जसपाल, रतपाल, चन्द्रपाल, विहराज, पुण्यपाल, वाहड, और रूपदेव। ये आठो ही पुत्र अपने पिता के समान ही योग्य,

---

ससि-वासरे रासिमयकतुले, गोलगो मुत्ति मुक्के–सबले ॥"

बाहुबलिचरित प्रशस्ति संग्रह पृ. ३७

११ राजा संभरीराय के बाद उनके पुत्र सारंगनरेन्द्र ने राज्य किया। सारंगदेव की मृत्यु के बाद उनके पुत्र अभयचंद ने पृथ्वी का पालन किया। अभयचंद के दो पुत्र थे—जयचंद्र और रामचन्द्र। संभरी राय के समय यदुवंशी (जैसवाल) साहु जसरथ या दशरथ मंत्री थे, जो जैनधर्म के संचालक थे। सारंग नरेन्द्र के समय उनके पुत्र गोकर्ण या कर्णदेव मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। किन्तु राजा अभयचंद और उनके पुत्र जयचंद के समय राज्य के प्रधान मन्त्री लंबकंचुक [लमेचू] वंश के साहु सोमदेव मन्त्रिपद पर कार्य कर रहे थे। परन्तु द्वितीय पुत्र रामचन्द्र के समय सोमदेव के पुत्र साहु वासाधर मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। रामचन्द्र ने इसी १४५४ संवत् में जयचंद के बाद राज्यपद प्राप्त किया था। तथा राजकार्य में दक्ष और कर्तव्य परायण था, परन्तु उस समय की राजनैतिक परिस्थिति भी बड़ी भयावह थी, और मुसलमान बादशाहों की निगाह उस पर लग रही थी। ऐसे समय अपनी स्वतन्त्रता कायम रखना बुद्धिमत्ता का ही कार्य है।

११ जिणणाह चरणभत्तो जिणधम्मपरो दया लोए।
सिरिसोमदेव तणओ णंदउ वासद्धरो णिच्चं ॥
सम्मत्तजुत्तो जिणपायभत्तो दयालुरत्तो बहुलोयमित्तो।
मिच्छत्त चत्तो सुविसुद्धचित्तो वासाधरो णंदउ पुण्णचित्तो ॥

बाहुबली चरित संधि ३

चतुर और धर्मात्मा थे। वासाधर के पिता सोमदेव श्रेष्ठी भी अभयचन्द्र और उनके पुत्र जयचंद के समय मंत्री पद पर आसीन रह चुके थे। यद्यपि सोमदेव यदुवंशी थे परन्तु उनका कुल 'लम्बकंचुक' (लमेचू) था। क्योंकि जैनसाहित्य सदन दिल्ली की प्रति में उनके पुत्र को 'लमेचू' लिखा है. जैसा कि ग्रन्थ की चौथी संधि के निम्न पद्य से जान पड़ता है :—

"श्रीलम्बकेंचुकुलपद्मविकासभानुः, सोमात्मजो दुरितदारुचयकृशानुः।
धर्मैकसाधनपरो भुविभव्यबन्धुर्वासाधरो विजयते गुणरत्नसिन्धुः॥"

—बहुबलिचरित संधि ४।

कवि धनपाल ने अपनी ग्रंथप्रशस्ति में सं० १४५४ से पूर्व के इतिवृत्त का भी कुछ संकेत किया है। और चन्द्रवाड के निम्न चौहानवंशी राजाओं का उल्लेख किया है, जिनकी संख्या ५ है, संभरी राय, सारंगनरेन्द्र, अभयचन्द्र, और इनके पुत्र जयचन्द रामचन्द्र। रामचन्द्र के पुत्र प्रतापरुद्र। इनमें प्रारम्भ के तीन नामों का अच्छा परिचय ज्ञात नहीं होता, अन्वेषण करने पर उस समय के साहित्य में मिल सकता है, पर वह मेरे देखने में नहीं आया।

विक्रम संवत १४१४ में अभयचन्द्र के प्रथम पुत्र जयचन्द्र के राज-काज करने का उल्लेख अवश्य उपलब्ध हुआ है। अवशिष्ट पूर्ववर्ती तीन राजाओं का राज्यकाल यदि ६० वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नहीं है तो भी इनकी सीमा १३७५ या १४०० के आस पास होगी। तब सं० १३७५ से १४२५ तक किनका राज्य रहा, यह विचारणीय है। संभरीराय से पूर्व किसका राज्य था यह भी चिन्तनीय है। इस सम्बन्ध में अन्वेषण करने की आवश्यकता है जिससे सं० १३१३ से १४५४ तक की शृङ्खला का सामंजस्य ठीक बैठ जाय।

सं० १५५४ में चन्द्रवाड में निर्मित होनेवाले ग्रन्थ में कवि ने जिन राजाओं का उल्लेख किया था, वह ऊपर दिया जा चुका है। हॉ सेठ का कूचा दिल्ली के बड़े मंदिर में स्थित एक चौबीसी धातु की मूर्त्ति के उल्लेख से उस समय अभयचन्द्र के प्रथम पुत्र जयचन्द्र का राज्य था। उसके राज्यशासन काल में ही उक्त मूर्त्ति की प्रतिष्ठा की गई थी[१२]। इससे स्पष्ट है कि अभयचन्द्र का राज्य उससे पहले रहा है, पर वह कब से

१२ सश्रेयसे वोऽस्तु युगादिदेवः सुरासुरे निर्मितपादसेवः
यस्यां ऽभातीति सरोरुहालो भंगावलीवास्य सरोजलुब्धा॥१॥

सं० १४५४ वर्षे वैशाखसुदि १२ सोमे दिने श्री चन्द्रपाटदुर्गे चाहुवाण राज्ये श्री अभयचन्द्रदेव सुपुत्र श्री जयचन्द्रदेव राज्ये श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये आचार्य श्रीअनन्तकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे क्षेमकीर्त्तिदेवा पद्मावती

कब तक रहा है यह अभी विचारणीय है। द्वतीय पुत्र रामचन्द्र का राज्य उससे बाद में हुआ जान पड़ता है। क्योंकि विक्रम संवत् १४६८ में रामचन्द्र का राज्य विद्यमान था। उक्त संवत् में ज्येष्ठ कृष्णा अमावास्या शुक्रवार के दिन चन्द्रवाड नगर में रामचन्द्रदेव के राज्य काल में भट्टारक अमरकीर्ति का षटकर्मोपदेश नाम का ग्रन्थ लिखा गया था, और जिसे चन्द्रवाड के निवासी साहू जगसीह के प्रथम पुत्र उदय सिंह के ज्येष्ठ पुत्र देल्हा के द्वितीय पुत्र अर्जुन ने अपने ज्ञानावर्ण कर्म के क्षयार्थ लिखवाया था[13]। और मूलसंघी गोलाराडान्वयी पण्डित असवाल के पुत्र विद्याधर ने लिखवाया था, जो नागौर के शास्त्रभंडार में सुरक्षित है।

कविवर रइधू ने "पुण्णासवकहाकोस' की रचना की है, जिसमें सम्यक्त्वोत्पादक पुण्यवर्धक कथाओं की सृष्टि की गयी है। कथाएँ बड़ी रोचक है। इस ग्रंथ की प्रशस्ति में कवि ने चन्द्रवाड का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"चन्द्रवाड पट्टन कालिंदी (यमुना) नदी से चारो तरफ से घिरा हुआ है। फिर भी वह धन-कन-कंचन और श्री से समृद्ध है। वहाँ चौहानवंशी राजा रामचन्द्र ने अपना राज्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रतापरुद्र को दे दिया। प्रतापरुद्र एक वीर पराक्रमी शासक था। धीर रुपवान, गंभीर, राजनीति में चतुर और युद्ध करने मे कुशल था। उसने अपनी तलवार से अनेक शत्रुओं को विजित किया था। वह शत्रुओं के लिये प्रलय काल के समान था, गुणग्राही, अतुलित साहस और उत्साह से सम्पन्न था।

उसी समय योगिनीपुर (दिल्ली) निवासी अग्रवालवंशी साहु तोसउ के चार पुत्रों मे से प्रथम पुत्र साहु नेमिदास ने वहां व्यापार कर के बहुत द्रव्य अर्जित किया था। तथा भक्तिवश विद्रुम (मूगा) रत्नों और पाषाण आदि कि मूर्त्तियो का निर्माण कराकर प्रतिष्ठित किया था और जिन मन्दिर बनवाया था। यह उस समय चन्द्रवाड के राजा

पोरपाटान्वय साधु माहण पुत्र सा० देवराजभार्या पमा, पुत्राः पंच—करमसीह, नरसीह हरिसिंह, वीरसिंह, रामसिंह एतैः कर्मक्षयार्थ चतुर्विंशतिका प्रतिष्ठाकारितः पंडित मारू शुभ भवतु।

—कूचासेठ दिल्ली बड़ामन्दिर।

१३ अथ सवत्सरे १४६८ वर्षे ज्येष्ठकृष्णापंचदश्यां शुक्रवासरे श्रीमच्चन्द्रपाटनगरे महाराजाधिराज रामचन्द्रदेव राज्ये तत्र श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्रीमूलसघे गूजर [गुर्जर] गोष्ठि तिहुयणगिरिया साहु श्रीजगसीहाभार्यामेमा तयो. पुत्राः [चत्वारा.] प्रथमपुत्र उदैसीह भार्यारतो, [द्वितीय] अजैसीह तृतीय पहराज चतुर्थ खाम्हदेव। ज्येष्टपुत्र उदैसीह भार्यारतो त्रयोः पुत्राः ज्येष्ठ पुत्रदेल्हा, द्वितीयराम, तृतीयभीखम। ज्येष्ठपुत्र देल्हा भार्याहिगे (तयोः) पुत्राः द्वयो ज्येष्ठपुत्र हालू द्वितीय अर्जुन ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं इदं षट्कर्मोपदेश लिखापितं।"

—नागौर शास्त्रभंडार

प्रतापरुद्र द्वारा सम्मानित थे[१४]। इन्हीं साहु नेमिदास के अनुरोध से कवि रइधू ने उक्त "पुण्यास्रवकथाकोष" की रचना की थी। ग्रंथ का रचनाकाल विक्रम १५ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण जान पड़ता है।

संवत् १५११ में पंडित धर्मधर ने, दत्तपल्ली में, जो इक्ष्वाकुवंशी गोलाराडान्वयी साहु महादेव का प्रपुत्र और यशपाल तथा हीरादेवी का पुत्र था। इसके दो भाई और भी थे, विद्याधर और देवधर। यह मूलसंघ—सरस्वतीगच्छ के भट्टारक पद्मनन्दी, शुभचन्द्र और जिनचन्द्र का अनुयायी था। इसने पहले "श्रीपालचरित" बनाया था और बादमें 'नागकुमार चरित। चन्द्रवाड के पास 'दत्तपल्ली' नाम का एक नगर था, उसके निवासी साहु नल्हु की प्रेरणा से उक्त नागचरित की रचना की गयी थी। इनके पिता का नाम धनेश्वर था, वहाँ भोजराज का पुत्र माधवचन्द्र राज्य कर रहा था, तब उक्त धनेश उनका मन्त्री था, राजा रामचन्द्र राज्य कर रहा था, उक्त धनेश उनका मंत्री था, उसमें राजा रामचन्द्र के तीनों पुत्रों का उल्लेख है। प्रतापरुद्र, अभयचन्द्र और रणवीर सिंह। धनेश्वर की प्रेरणा से ही कवि ने उक्त ग्रंथ बनाया था[१५]।

संवत् १७३४ में चन्द्रवाड निवासी रावत शिरोमणि लभेचू ने सम्यग्ज्ञान-विषयक यन्त्र प्रतिष्ठित करवाया था[१६]।

संवत् १७५० में चन्द्रवाड एक छोटे गाँव के रूप में रह गया था[१७]।

मुस्लिम शासनकाल में चन्द्रवाड

मुस्लिम शासनकाल में चन्द्रवाड का किला अपनी मजबूती के लिये प्रसिद्ध था। वहाँ चौहान वंशज क्षत्रिय राजाओं की मुस्लिम शासकों से कईबार मुठभेड़ हुई थी। उनके आक्रमण के कारण वहाँ क्षत्रियों का शासन प्रायः समाप्त हो गया था। फिर भी शासन उन्हीं का चलता रहा।

सन् १३८९ (वि० सं० १४४६) में सुलतान फीरोजशाह तुगलक ने इतिकान्त' पर हमला किया था, उस समय हसन' खाँ नाम के एक अफगान लोदी रपरी का अधिकारी बन बैठा था. और वही वगायनाम चन्द्रवाड़ का भी जागीरदार कहलाने लगा। तुगलक शाह ने जो फतेहखाँ का पुत्र और फीरोजशाह का पोता था, चन्द्रवाड को

१४ 'णिवरयत्तहद्द सन्माणउ'।
पुण्यास्रव कथाकोष.

१५ देखो—अनेकान्त वर्ष १३ में प्रकाशित नागकुमारचरित और कवि धर्मधर' नाम का लेख।

१६ देखो, भगतजी का मंदीर मैनपुरी।

१७ गाँव एकभूमि सुखकारी' देखो तीर्थमाला श्वे०

नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। उस समय वहाँ के राजा ने भाग कर अपनी रक्षा की थी; उसका नाम सावंतसिंह था, जो चन्द्रसेन का पुत्र था, उस समय तो वह किसी तरह बच गया; किन्तु उसने कुछ ही समय बाद बड़ी भारी फौज के साथ पुनः घेर लिया, और उसे बर्वाद किया। कहा जाता है कि उसी समय चन्द्रप्रभ भगवान की स्फटिक मणि की एक सुन्दर मूर्ति जमुना की बीच धारा में डाल दी गई थी, यह मूर्ति बड़ी सातिशय थी, और जो बाद को यमुना नदी के प्रवाह से निकाली गयी थी, जो उस समय फिरोजाबाद के अटा के मन्दिर में विराजमान की गई थी। सं० १४८४ में खिजरखॉं ने इसे अपने अधिकार में कर लिया और भोगॉव के राजा से खिराज वसूल किया।

सं० १४९५ में हसन खॉं लोदी ने चन्द्रवाड को अपनी जागीर बनाया, किन्तु सैयदों ने उस पर कब्जा नहीं होने दिया। पश्चात् राजा प्रतापरुद्र को, जो जागीरदार था, चन्द्रवाड भोगांव; मैंनपुरी, रपरी इटावा और कुतुबखॉं की जागीर मंजूर की।

जब सुलतान बहलोललोदी का जौनपुर के नवाव से युद्ध हुआ, उस समय गड़बड़ी में कुत्वखॉं रपरी का जागीरदार नियत किया गया। तब चन्द्रवाड और इटावा भी उसके अधिकार में रहे थे। सन् १४८७ में बहलोल ने रपरी में जौनपुर के बादशाह हुसैनखॉं को हराया था। अनन्तर सिकन्दर लोदी ने सं० १५१७ (१४८९ ई० सन्) में चन्द्रवाड और इटावा की जागीरें अपने भाई आलम खॉं को प्रदान कर दीं। परन्तु वह उससे रुष्ट हो गया और उसने बाबर को बुला भेजा, किन्तु चन्द्रवाड में उसे हुमायूं ने पराजित कर दिया, यह परिस्थिति राणा सांगा से सहन न हुई और उसने मुसलमानों पर आक्रमण कर दिया और मुगलों का अधिकार चन्द्रवाड और रपरी पर हो गया। पर यह सब क्षणिक था। शेरशाह ने हुमायूं को पराजित कर उस पर अपना अधिकार कर लिया। उस समय प्रजा में कुछ जोश आया और अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये उसने विद्रोह कर दिया; किन्तु शेरशाह १२००० घुड़सवार हिन्द सरकार से लाकर हतिकांत में रहा और वह अपना अधिकार अक्षुण्ण बनाये रक्खा। उसने इस देश में सड़कें तथा सराय बनवाईं[१८]। अकबर के समय रपरी और चन्द्रवाड के प्रदेश सूबा आगरा मे मिला लिये गये[१९]।

इस तरह चन्द्रवाड आदि की परिस्थिति विषम होती गई और वह अपनी खोई हुई श्रीसम्पन्नता को फिर नहीं पा सका, और आज वह खण्डहरों के रूप में अपनी

---

१८ देखो, भूगोल का संयुक्तप्रान्तांक, भूगोल कार्यालय, इलाहाबाद।

19 Atkinson statistical Description and Historical Acount of the N. W. P. S. of India Vol. VI P. I P. 373—375

पूर्व जीवन-गाथा पर आँसू बहा रहा है, वहाँ जैनियों के अनेक विशाल मन्दिर थे, जो भूगर्भ में अपनी श्रीसम्पन्नता को दबाये हुए सिसकियाँ ले रहे हैं, वहाँ आज भी भूगर्भ में अनेक मूर्त्तियाँ दबी पड़ी हैं। खुदाई होने पर जैन कीर्त्तियों के प्रचुर रूप में मिलने की संभावना है, साथही जैनेतर सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिल सकती है। खुदाई में ऐतिहासिक सामग्री का मिलना संभव है। वहाँ एक जीर्ण मन्दिर अवशिष्ट था जिसका जीर्णोद्धार फिरोजाबाद पंचायत ने कराया था, उसमें इस समय कोई जैन मूर्ति नहीं है किन्तु मेले के समय मूर्ति फिरोजाबाद से ले जाई जाती है।

इस सब विवेचन पर से स्पष्ट हो जाता है कि आगरा और रुहेलखण्ड में चन्द्रवाड, इटावा, हतिकान्त, रपरी, आसईखेडा, करहल, मैनपुरी, और भोगाँव आदि स्थान उत्तरभारत की जैन संस्कृति के प्रमुख केन्द्र थे। ये स्थान जहाँ चौहानवंश की उज्ज्वलता के प्रतीक हैं वहाँ जैन संस्कृति के अतीत गौरव की झाँकी प्रस्तुत करते है।

प्रशस्तिः- श्रीजैनसिद्धान्तभवनस्य

चन्द्रात्मजो देवकुमारजीवः प्रभोः दयालस्य पितामहस्य ।
गुणानुवर्तित्वमवाप्यबाल्यात् परोपकारे हि मनो निदध्यौ ॥१॥
पितुस्तथाधर्मकुमारमृत्योः खेदेन दुःखेन च दुःखितेन ।
अहर्निशं जैनसमाजसेवां कर्तुं गृहीतं व्रतमेकमात्रम् ॥२॥
श्रीमान् यशस्वी जिनधर्मसेवी विचारचातुर्यकलाप्रवीणः ।
सद्विद्यया जैनसुसंस्कृतिञ्च कर्तुं सदार्त्तस्य च सौख्यदाता ॥३॥
सरस्वती गेहमपूर्वमद्भुतम् ह्यसौ यशस्यं सुमनोहरञ्च ।
जैनागमागारमिदं विशालम् गोपालिकूपस्य च नातिदूरे ॥४॥
बालाहितार्थञ्च सुपाठशालाम् संस्थापयामास ततः क्रमेण ।
संस्थापिता तेन च पाठशाला आरापुरीजैनकिशोरिसंस्थाम् ॥५॥
गुणैकनन्दैकमितस्य वत्सरे सभ्यैः सहस्रैः सहवासिभिः स्वयम् ।
सम्मेदशृङ्गं सुभगं सुवन्दितुम् रात्रौ च स द्वादशवादने ययौ ॥६॥
प्रवेशमार्गस्य पिधानहेतोः बहिः समास्थातुमनो विनम्रः ।
परम्प्रयासात् सुसमागतेन पन्नादिलालेन क्षमापितोऽसौ ॥७॥
परोपकारार्थमिदं शरीरं मत्वा च तेनातितरां सुदुःखी ।
स्वयं क्षमायाचनकर्मसक्तः स्वनम्रता किन्न प्रकाशिता स्यात् ॥८॥
निरन्तरं दीनजनोपकारी रात्रिंदिवं जैनसुसंस्कृतेश्च ।
भक्तः सदासौ हि विशुद्धबुद्ध्या जैनागमाचारविचारदक्षः ॥९॥
घोरान्धकारान्तर्लीनशास्त्रम् जैनं शिलालेखमथप्रपत्रम् ।
ताम्रं सहस्रञ्च हि संकलय्य लप्स्ये सुशान्तिं हि विनिश्चयो मे ॥१०॥
इत्थं सुनिश्चित्य च धर्मकार्यम् कृतञ्च तेनातितरां दुरूढम् ।
धर्मप्रचाराय च कर्मठेन विनिर्मितं धर्मगृहम् विचित्रम् ॥११॥
निःसीमनिःस्वार्थसुसेवकोऽसौ स्याद्वादविद्यालयकारकश्च ।
धीमद्वरः जैनसुसंस्कृतेश्च संजागरूकः प्रहरीति सत्यम् ॥१२॥
अष्टाभ्रनन्दैकमिताद्धिवत्सरात् समागतस्यास्य मनोहरस्य ।
सिद्धान्तगेहस्यविशालकीर्तेः समागतः हीरजयन्तिकालः ॥१३॥

गुणरसनवचन्द्रे वत्सरेऽस्मिन्प्रवृत्ते विविधबुधसमाजे जैनविद्याभिवृद्ध्यै ।
जगतिविदितवृत्तं श्रीमनीक्षं यशस्यम् विलसति हि जयन्त्यायुक्तमेतद् विहारे ॥१४॥
मनोहरे पुण्यविशालमन्दिरे ससम्भ्रमं शास्त्रविलोकनक्षमाः ।
अन्वेषकाः देशविदेशवासिनः कालादिहैवैत्य च लब्धकामाः ॥१५॥
पित्राकृतं कार्यमिदं सहर्षम् निर्मलकुमारस्य सहायतायाः ।
योगेन जातश्चसमुन्नतं हि विलोक्यते सर्वसभासदस्यैः ॥१६॥
षष्टिवर्षैविवर्द्धिष्णुम् भवनं संप्रकाशते ।
निर्मलेनातियोगेन नैर्मल्यं दधते क्षणात् ॥१७॥
पुत्रः किलात्मापितुरत्रकोशे जागर्तिसत्यं ह्यनुभूयतेऽद्य ।
यतो हि तद्रूपमवाप्य निर्मलः स्वयंप्रवृत्तः प्रथने हि तस्य ॥१८॥
महात्मनस्तस्य च निर्मलस्य प्रस्थानकार्यम् सफलं तदासीत् ।
सिद्धान्तगेहस्यसुद्‌ृश्यमानम् स्वरूपमद्य वधि शोभते च ॥१९॥
नयेन चैतेन विनिश्चयो मे सुबोध-कालेऽप्यतिविस्तृतिश्च ।
संपत्स्यते चैव विशाललक्ष्म्या सिद्धान्तगेहो नहि संशयोऽत्र ॥२०॥

—श्रीब्रह्मदत्त मिश्रः, वेदसाहित्यधर्मशास्त्राचार्यः

प्रकाश-गीतम्

हर तिमिरं तिमिरारे !

आशु निमज्जय विश्वमपारं ज्योतिः पारावारे !

हर तिमिरं तिमिरारे !!

'गुन-गुन-गुन-गुन'-मधुरममन्दं,

कुर्वन् प्रीतिरुतं स्वच्छन्दम्,

अरविन्दे बन्दी मधुपोऽसौ मधुलोभी कासारे !

हर तिमिरं तिमिरारे !!

प्रणय - पिपासा मानवलोके,

कस्य मनः पातयति न शोके,

वंशीध्वनिमाकर्ण्य कुरंगो भवति धृतः कान्तारे !

हर तिमिरं तिमिरारे !!

ज्वलति वर्तिका दीप-स्नेहे,

विलपति प्रोषितपतिका गेहे,

प्रवहति दृग्वरुणा करुणायाश्चिरमाशा दिग्द्वारे !

हर तिमिरं तिमिरारे !!

श्री पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' बी० ए० (प्रतिष्ठा)

आयुर्वेद-साहित्य-व्याकरण-वेदान्ताचार्य

सम्पादकीय

सन् १९०३ की बात है कि श्री सम्मेदशिखर की यात्रा करते हुए भट्टारक श्री हर्षकीर्त्तिजी महराज का आरा में शुभागमन हुआ। आप जैनधर्म और जैन साहित्य के महान् विद्वान् थे ही, साथ ही एक पुस्तकालय प्रेमी भी। उस समय आप दो-तीन सन्दूक हस्तलिखित ग्रन्थ भी अपने साथ लाये थे। आरा आते ही भट्टारकजी दानवीर स्व० श्री बाबू देवकुमारजी से मिले। इन्होंने अपने पितामह स्व० श्री पं० प्रभुदासजी के ग्रन्थों का दर्शन उन्हें कराया। भट्टारकजी उन संकलित ग्रन्थों को देख-कर बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने राजर्षि श्री देवकुमारजी को ग्रन्थागार की स्थापना का आदेश दिया। फलतः इसी वर्ष मार्च में श्री शान्तिनाथ मन्दिर के एक कमरे में इस ग्रन्थागार का श्रीगणेश किया गया; जिसमें श्री पं० प्रभुदासजी के ग्रन्थों के साथ भट्टारकजी के ग्रन्थ भी सम्मिलित कर दिये गये। इस अवसर पर कुछ अन्य महानुभावों ने भी हस्तलिखित ग्रन्थ उक्त ग्रन्थागार को भेंट किये।

सन् १९०६ में साहित्यरसज्ञ श्री बाबू देवकुमारजी ने दक्षिण भारत के तीर्थ स्थानों की पुण्य यात्रा की तथा उस प्रदेश के विभिन्न नगरों और गांवों में सभाओं का आयोजन कराकर भाषण दिये। आपके प्रयत्न से कई स्थानों पर पाठशालाओं एवं छात्रावासों की स्थापना हुई। बाबू साहब को इस कार्य में वर्णी श्री नेमिसागर जी का पर्याप्त सहयोग मिला। दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा से वापस लौटने के उपरान्त श्री बाबू देवकुमारजी ने "जैनगजट" के सम्पादन का कार्यभार सभाला और मृत्यु के पूर्व तक वे इस कार्य को बड़ी तत्परता के साथ करते रहे। सम्पादकीय टिप्पणियां और निबन्धों में उन्होंने ग्रन्थालयों के महत्त्व पर एकाधिक बार प्रकाश डाला था।

४ जून १९०८ ई० में श्री बाबू देवकुमारजी ने अपना एक वसीयत नामा लिखा जिसमें मौजा प्रहाप को दानस्वरूप सरस्वती भवन और जैन-मन्दिरों की व्यवस्था के लिए अपनी जमीन्दारी से अलग निकाल दिया। उस समय इस मौजे की वार्षिक आमदनी २०००) रुपये के लगभग की थी, जिसमें से १५००) रुपये की वार्षिक सहायता जैन-सिद्धान्त-भवन को निश्चित कर दी गयी। ग्रन्थागार का स्वतन्त्र 'भवन" बनवाने के लिए श्री बाबू देवकुमारजी ने ५०००) रुपये की नकद निधि सरस्वती भवन के खाते में जमा कर दी।

दुर्भाग्यवश सरस्वती सेवक दानवीर श्री बाबू देवकुमारजी का स्वर्गवास ५ अगस्त १९०८ ई० कोहो गया और कुछ दिनों तक ग्रन्थागार का कार्य प्रायः स्थगित रहा।

मृत्यु के पूर्व श्री बाबू देवकुमारजी ने ग्रन्थ, शिलालेख एवं अन्य पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री के संरक्षण के सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्वपूर्ण हृदयोद्गार व्यक्त किये थे— "आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रों और मन्दिरों एवं शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिए; क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्व का अस्तित्व रहेगा। मैं तो इसी चिन्ता में था, किन्तु अचानक काल आकर मुझे लिए जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस कार्य को पूरा न कर लूँगा तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभाग्योदय से मुझे इस परम पवित्र कार्य के करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ, अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तम्भ स्वरूप हैं, इसलिए परम आवश्यक कार्य का संपादन करना सबका परम कर्त्तव्य है।

ई० सन १९१० में श्री जैन-सिद्धान्त-भवन ग्रन्थगार की अवरुद्ध प्रगति के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया गया और नयी प्रबन्ध समिति का गठन हुआ। इस समिति के अध्यक्ष श्री नेमिसागर जी वर्णी और मन्त्री श्री बाबू करोड़ीचन्द्र जी निर्वाचित हुए। उक्त दोनों महानुभावों ने ई० सन् १९११ की पहली जून श्रुत पञ्चमी के दिन एक बृहद् सभा का आयोजन किया। इस सभा के अध्यक्ष हिन्दू महासभा के कर्मठ कार्य-कर्त्ता श्रीमान् सेठ पदमराज जी रानीवाला निर्वाचित हुए। बाहर से पधारने वालों में श्री कुँवर दिग्विजय सिंह, वैद्यराज चन्द्रसेन इटावा, श्री लाला दामोदर दासजी लखनऊ, बाबू रघुनाथ सिंह जी वकील हाई कोर्ट, कलकत्ता आदि व्यक्ति प्रमुख थे। इस उत्सव के स्वागताध्यक्ष श्री बाबू श्यामसुन्दर दास जी वकील बी. ए., एल-एल. बी. आरा थे। इस अधिवेशन में श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रगति के सम्बन्ध में रूपरेखाएँ प्रस्तुत की गयी। तदनुसार कार्य करने के हेतु बेंगलौर, मेंगलौर, मूडबिद्री, कारकल, हुम्मच बेलगाँव, पूना, बम्बई प्रभृति स्थानों से ग्रन्थसूचियाँ मंगायी गयीं और इन सूचियों के आधार पर ग्रन्थ संकलन का कार्य आरम्भ कर दिया गया। सन् १९११ की श्रुतपञ्चमी का दिन ग्रन्थगार के जीवन काल में इतना अधिक महत्वपूर्ण हो गया, जिससे इसी को स्थापना दिवस माना जाने लगा। इन दिनों में श्री कुमार देवेन्द्र प्रसाद भी उपमन्त्री के पद पर बड़ी तत्पर से काम करते रहे।

श्री बाबू करोड़ीचन्द्र जी के पश्चात् मन्त्री का पद श्री बाबू सुपार्श्वदास जी गुप्त ने संभाला। आपके कायकाल में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची प्रकाशित हुई और ग्रन्थों का संकलन भी होता रहा।

सन् १९१९ में बालिग होने के अनन्तर श्री बाबू निर्मल कुमार जी भवन के ट्रस्टी एवं ग्रन्थागार के मन्त्री निर्वाचित हुए। आपने सन् १९२४ में ग्रन्थागार के लिए स्वतन्त्र भवन का निर्माण आरम्भ किया और एकही वर्ष में भव्य एवं विशाल भवन तैयार करा दिया। सन् १९२६ में श्रुतपञ्चमी के दिन धूम-धाम पूर्वक ग्रन्थागार अपने रम्य नये भवन में स्थापित कर दिया गया। उक्त बाबू साहब के कार्य काल में हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थों का प्रचुर परिमाण में संकलन हुआ। आपके जीवन का यह नियम था कि जब कभी भी आप आरा नगर से बाहर जाते थे तो उपहार के रूप में भवन के लिए कुछ नये ग्रन्थ अवश्य ही लाते थे। जैन-सिद्धान्त-भवन भी उनके दायकों में परिगणित था। आपके समय में ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने के लिए एक लेखक नियमित रूप से रहते थे, जो नये ग्रन्थों की प्रतिलिपियों के अतिरिक्त भवन के जीर्णग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी तैयार करते थे। 'भवन' से महत्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ बाहर भी भेजी जाती थीं। सन् १९२८ में सरस्वती भवन बम्बई के लिए वर्धमान काव्य, योगसंग्रह, सिद्धान्तसार एवं सत्यशासन परीक्षा की प्रतिलिपियाँ भेजी गयीं। इसी प्रकार इन्दौर के लिए त्रिलोकसार पूजा की प्रतिलिपि उसी सन में भेजी गयी थी। श्री बाबू निर्मल कुमार जी सन् १९४६ तक 'भवन' के मन्त्री पद पर आसीन रहे। निस्सन्देह श्री बाबू निर्मलकुमार जी का समय ग्रन्थागार का स्वर्णकाल था, इसकी सर्वांगीण उन्नति उन्हीं के समय में हुई। संग्रह में वृद्धि तो हुई ही, इसका यश भी समस्त भारत में व्याप्त हो गया।

अगस्त १९४६ में ग्रन्थागार के मन्त्री श्री बाबू चक्रेश्वरकुमार जी और अध्यक्ष पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी निर्वाचित हुए। सन् १९५७ तक उक्त बाबू साहब बड़ी तत्परता से कार्य करते रहे। इस समय में मुद्रित ग्रन्थों का संकलन होता रहा तथा 'भास्कर' के परिवर्तन में महत्वपूर्ण अंग्रेजी, हिन्दी एवं कन्नड आदि विभिन्न भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएँ आती रहीं।

जून ई० १९५७ में मन्त्री पद श्री बाबू सुबोध कुमार जी ने और अध्यक्ष पद श्रीमान् बा० छोटेलालजी कलकत्ता ने संभाला। श्री बाबू सुबोध कुमार जी उत्साही कर्मठ, युवक हैं। स्वयं भी कहानी लेखक हैं, अतः इस ग्रन्थागार की प्रगति की ओर इनका विशेष ध्यान है। बाबू छोटेलालजी भी पुरातत्त्व के विशेषज्ञ एवं साहित्य रसिक हैं। वर्तमान में उक्त दोनों पदाधिकारी ग्रन्थागार को शोधप्रतिष्ठान का रूप देने के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील हैं। यह हीरक जयन्ती आयोजन एवं 'भास्कर' का पुनरुदय आप दोनों के उत्साह एवं कार्यशीलता का ही फल है।

शोध और भवन—

श्री जैन सिद्धान्त भवन शोध एवं अन्वेषण के लिये एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्थान है। इसकी सामग्री का उपयोग कर आजतक कितने ही विद्वान् पी-एच० डी०, डी० लिट्० जैसी महत्त्वपूर्ण उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं।" यहाँ सहस्रों हस्तलिखित, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश कन्नड़, तमिल आदि की ताड़पत्रीय एवं कर्गलीय बहुमूल्य पाण्डुलिपियां संग्रहीत है। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि वैदिक साहित्य एवं पालि त्रिपिटिक आदि बौद्धागम साहित्य के साथ-साथ अन्य प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन, संस्कृत पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, तामिल, तैलगू, कन्नड़, उर्दू, आदि भारतीय एवं अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटालियन आदि विदेशी भाषाओं में लिखित, मुद्रित साहित्य, आलोचना, इतिहास संस्कृति व्याकरण, छन्द, अलंकार आदि विषयक विविध उच्चकोटि के ग्रन्थ यहाँ संकलित किये गये हैं। इतना ही नहीं उसके म्यूजियम खण्ड में सुरक्षित प्राचीन एवं मध्यकालीन, मुद्राएं, एवं चित्र आदि शोध और खोज की दृष्टि से बहुमूल्य हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थों की दृष्टि से यह ग्रन्थालय कितना समृद्ध है इसका अनुमान निम्न-ग्रन्थों की तालिका से ही लगाया जा सकेगा। यहाँ विश्वकोष एवं साहित्य कोशों में से Encyclopaedia Britannica, Chamber's Encyclopaedia, Encyclopaedia of Freemasonry, Encyclopaedia of Indo Aryan Research, New Popular Encyclopaedia, Encyclopaedia of Religion and Ethics, Chamber's Etymological Dictionary of the English language, Classical Dictionary, Dictionary of Mythology, Dictionory anglais Framcais, Dictionary of the Bible, Dictionary of Islam, German-English Dictionary, Geographcal Dictionary of ancient and Mediaeval India, Hindustani English Dictionary, Illustrated Ardha-Magadhi Dictionry Imperial Dictionary of the English Language, Ogilvie's Imperial Dictionary, Webester's Complete Dictionary of English Language.

हिन्दी विश्वकोष, शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यम्, अमरकोश, अभिधानराजेन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, वैजयन्ती, विश्वलोचनकोश, मेदिनी, अनेकार्थ निघण्टु, धनञ्जय नाममाला, देशी नाममाला, पाइयलच्छीमाला, पाइयसद्दमहण्णवो आदि कोष ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं।

पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न गजेटियरों, एकाउन्ट्स एवं रिपोर्टों के अतिरिक्त —

Indian Library Journal, Indian Library Book, Research and Review, Jain Gazeette, Indian Historical Quarterly, Indian Culture,

Bihar Research Society Journal, Asiatic Researcher, Historical Researcher, Indian Antiquary, Indian Antiquity, Journal of the Asiatic Society of Bengal, Bombay, Madras, Ceylon, Great, Britanin & Aireland, Journal of Sir G. N. Jha Researeh Institute, Journal of Bhandarkar Oriental Research Institute, Baroda oriental Research Institute's Journal, Research Journal & Bulletine of Tanjore, Adyar, Mysore etc.

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, साहित्य, अनेकान्त, जैनहितैषी, अध्यात्म प्रकाश (गुजराती) कर्नाटक साहित्य परिषद् पत्रिका (कन्नड़) गंगा के पुरातत्त्वांक, विज्ञानांक, वेदांक, जैनगजट (हिन्दी), जैन जगत, जैन दर्शन, जैन साहित्य संशोधक, भारतीय विद्या, जैन सिद्धान्त भास्कर, वीर, पुरातत्त्व (गुज०) भारतीय इतिहास संशोधक (मराठी) विशाल भारत, सरस्वती, साहित्य-संदेश, सुवास (गुज०) हिमालय और संस्कृत पत्रिकाओं में से "संस्कृत पाठशाला पत्रिका, सारस्वती सुषमा, सूर्योदय आदि प्रमुख हैं।"

भास्कर का पुनः उदय

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर का सर्वप्रथम प्रकाशन सन १६१२ में त्रैमासिक शोध-पत्रिका के रूप में किया गया था। इसके सम्पादक थे श्रीमान् सेठ पद्मराज जी रानीवाला। प्रथम वर्ष में प्रकाशित हुई चार किरणों में शिलालेख और प्रशस्तियों के आधार पर सम्राट् चन्द्रगुप्त का जैन श्रमण होना सिद्ध किया गया था। लगभग १००-१५० पृष्ठों की इस सामग्री का विद्वानों ने हृदय से स्वागत किया और सम्राट् चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणाएं प्रचलित थीं, उनका निराकरण हुआ। डॉ० जायसवाल, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ० आल्तेकर जैसे पुरातत्त्वज्ञों ने भास्कर की उक्त सामग्री का निष्पक्ष रूप से स्वागत किया। भवन की इस शोध-खोज की चर्चा बहुत दिनों तक इतिहासज्ञों की बीच बनी रही। गुर्वावलियाँ एवं पट्टावलियाँ भी प्रकाशित की गईं। भारतीय इतिहास के अन्धकाराच्छन्न तथ्यों की जैन दृष्टि से मौलिक विवेचनाएं भी की गई थीं। एक वर्ष के प्रकाशन के पश्चात् केतु उपग्रह ने भास्कर को सहसा ही ग्रसित कर लिया और एक लम्बे समय तक के लिये उसका प्रकाशन स्थगित कर देना पड़ा। सन् १६१६ में मंत्री पद का भार श्री बाबू निर्मल कुमार जी ने ग्रहण किया था। उसी समय से उन्हें भास्कर के प्रकाशन की चिन्ता लगी हुई थी। श्री बाबू चक्रेश्वर कुमार जी जब शिक्षा समाप्त कर आरा में रहने लगे तो उनका ध्यान भी स ओर आकृष्ट हुआ। उस समय के ग्रन्थपाल श्री पं० के० भुजबली जी शास्त्री के रामर्शानुसार भास्कर के पुनः प्रकाशन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई। सम्पादन कार्य

के लिये जैन साहित्य और इतिहास के विशेषज्ञों का एक मण्डल गठित किया गया जिसमें निम्न महानुभाव सम्मिलित थे।

१—श्री प्रो० डॉ० हीरालाल जी जैन एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्०

२—श्री प्रो० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

३—श्री डॉ० कामता प्रसाद जी जैन पी-एच० डी०, एम० आर० ए० एस०

४—विद्याभूषण श्री पं० के० भुजबली शास्त्री

इस प्रकार विशिष्ट रूपरेखाओं के साथ सन् १९३५ में इस पत्रिका का पुनः प्रकाशन आरम्भ हुआ। इतिहास एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी निबन्धों के अतिरिक्त तिलोयपण्णत्ति, वैद्यसार, जैसे ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ और प्रतिमा लेख एवं प्रशस्तिसंग्रह आदि भी प्रकाशित होते रहे। त्रैमासिक रूप में इस पत्रिका का प्रकाशन सन् १९४० में सम्पन्न हुए श्रवणबेलगोला के महामस्तकाभिषेक तक चालू रहा। इस अवसर पर भास्कर ने श्रवणबेलगोला नामक विशेषांक भी प्रकाशित किया था। जिसमें श्रवणबेलगोला सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री संकलित की गई थी। शोध और खोजों के आधार पर इस तीर्थ का पुराना इतिहास एवं अनेक मौलिक ज्ञातव्य तथ्य संकलित किये गये थे। दक्षिण भारत की जैन संस्कृति को अवगत करने के लिए इस विशेषाङ्क का आज भी कम महत्व नहीं। 'भास्कर' के साथ-साथ सन १९३५ से ही अंग्रेजी में जैन साहित्य और इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी देने के हेतु "जैन-एण्टिक्वेरी" भी प्रकाशित होती रही। अंग्रेजी विभाग में जैन राजा-महाराजाओं के इतिहास के साथ जैन गणित पर कई महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए। इन निबन्धों के लेखक हिन्दू गणित के विशेषज्ञ स्व० डॉ० श्री विभूतिभूषणदत्त जी थे। इन्हें कई शोध-पत्रिकाओं ने साभार उद्धृत किया था तथा जैन गणित की महत्ता की स्थापना हुई थी।

सन् १९४० में द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका के कारण आर्थिक संकट ने भास्कर को त्रैमासिक से अर्धवार्षिक बना दिया और तभी से सन् १९५५ तक 'भास्कर का प्रकाशन इसी रूप में जैन एन्टीक्वेरी के साथ होता रहा। इस अवधि में भास्कर के हिन्दी विभाग में ग्रन्थ-प्रकाशन एवं विभिन्न महत्त्वपूर्ण उपयोगी निबन्ध प्रकाशित होते रहे। एण्टिक्वेरी में भी अंग्रेजी में अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं मुद्रित होती रहीं। जमीन्दारी उन्मूलन के पश्चात् भवन की आर्थिक स्थिति चिन्तनीय हो गई। फलस्वरूप भास्कर को भी सान्ध्य-बेला का साक्षात्कार करना पड़ा। ७-८ वर्षों के पश्चात् भवन के सुयोग्य मंत्री श्री बाबू सुबोधकुमार जी रईस देवाश्रम की प्रेरणा एवं प्रयास से भास्कर का पुनः उदय होने जा रहा है। लगता है कि अब प्रातःवेला में भास्कर की अरुण किरणें उदित होने के लिये झाँक रही हैं।

और नये जोश-खरोश के साथ वह अपना ज्ञान-प्रकाश विकीर्ण करने के लिए आतुर है।

जैन इतिहास, साहित्य पुरातत्त्व, प्रशस्तियां, शिलालेख, दर्शन, आचार एवं संस्कृति से सम्बद्ध निबन्धों का प्रकाशन पूर्ववत् ही होता रहेगा। भास्कर अभी षाण्मासिक रूप में जैन-एण्टिक्वेरी के साथ प्रकाशित होता रहेगा। अब से निम्न स्तम्भ विशेष रूप से प्रकाशित करने का संयोजन किया गया है:—

१—बिहार-इतिहास स्तम्भ—बिहार की ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक सामग्री को जैनदृष्टि से उपस्थित करने के हेतु बिहार के किसी प्राचीन नगर, तीर्थ, शिला-लेख, मूर्तिलेख, एवं किसी प्राचीन प्रमुख प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कोई रचना प्रत्येक किरण में प्रकाशित होती रहेगी।

२—ग्रन्थागार की पाण्डुलिपियों का अनुशीलन-स्तम्भ—भवन के ग्रन्थागार में अभी भी शताधिक महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित ग्रन्थरत्न विद्यमान हैं, अतः नियमित रूप से किसी एक पाण्डुलिपि का आलोचनात्मक परिशीलन प्रस्तुत किया जायगा।

३—ग्रन्थ विभाग स्तम्भ—इस स्तम्भ के अन्तर्गत जैन-सिद्धान्त-भवन आरा या अन्य किसी भी ग्रन्थागार के बहुमूल्य लघुकाय ग्रन्थ को मूल रूप में प्रकाशित किया जायगा। ग्रन्थागारों में ऐसे अगणित ग्रन्थ हैं, जो विषय एवं भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हें स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित करना व्यय साध्य है, अतएव ऐसे लघु-काय ग्रन्थों को भास्कर प्रकाशित किया करेगा।

४—

सम्पादन—

जैन सिद्धान्त भास्कर और जैन एण्टिक्वेरी के सम्पादन के दिशा-निर्देश, नीति तथा विषय-सामग्री के निर्धारण एवं पर्यवेक्षण के हेतु एक परामर्श-मण्डल गठित किया गया है। इस मण्डल के सभी विद्वान् लब्धप्रतिष्ठ एवं यशस्वी साहित्यकार हैं। आशा है इस परामर्श-मण्डल की नीति के अनुसार ही उक्त पत्रिका का सम्पादन उसकी प्रगति में सहायक होगा। परामर्श-मण्डल में निम्नलिखित विद्वान् समाविष्ट किये गये हैं:—

१—श्री डॉ० हीरालाल जी जैन एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्, जबलपुर

२—श्री डॉ० ए० एन० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट्, कोल्हापुर

३—श्री डॉ० कामता प्रसाद जी जैन पी-एच० डी०, एम० आर० ए० एस०, अलीगंज

४—श्री डॉ० एन. टाटिया एम० ए०, डी० लिट्, मुजफ्फरपुर

५—श्री पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूडबिद्री

परामर्श-मण्डल के नीति निर्धारण के अनुसार सामग्री सम्पादन, संकलन एवं पत्र संचालन का भार निम्न सम्पादकों पर रहेगा। ये दोनों ही इसके सम्पादक नियत हुए हैं—

१—डॉ० ज्योति प्रसाद जी जैन,

एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, लखनऊ

२—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री,

एम० ए०, पी-एच० डी०, आरा

विद्वान् एवं साहित्य-प्रेमियों के सहयोग से भास्कर अब सतत उदीयमान् रहेगा। इस सम्बन्ध में एक आवश्यक निवेदन यह भी कर देना है कि इस पत्र के ग्राहकों की संख्या बढ़नी चाहिये। प्रत्येक मन्दिर, पुस्तकालय, कॉलेज, एवं स्कूल प्रभृति संस्थाओं को इसका ग्राहक अवश्य बनना चाहिये। किसी भी पत्र के सामने आर्थिक-संकट ग्राहकों की संख्या न्यून रहने के कारण ही आता है। यदि पर्याप्त ग्राहक संख्या रहे तो बार-बार भास्कर को अस्तोदय होने का अवसर ही न प्राप्त हो। अतएव ग्राहक संख्या की वृद्धि के हेतु समाज से अनुरोध है। साथ ही धनी-मानी साहित्य प्रेमियों से निवेदन है कि वे अपने द्रव्य से दस-पाँच विद्वानों को इस पत्र को अध्ययन के लिए भेजने की स्वीकृति प्रदान करें। यदि 'भास्कर' की ग्राहक संख्या पाँच सौ हो जाय तो यह पत्र स्वावलम्बी बन सकता है। शोध एवं खोज के प्रेमी विद्वानों और जिज्ञासुओं की सेवा के लिए भास्कर सदा उदीयमान रहे, यही श्रुतदेवता के चरणों में प्रार्थना है।

नेमिचन्द्र शास्त्री

THE JAINA ANTIQUARY

DIAMOND JUBILEE SPECIAL NUMBER

Vol. XXII DECEMBER 1963 No. I

Editors:

Dr. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B., Ph. D.
Dr. Nemi Chand Shastri, Jyotisacharya M. A., Ph. D.

Published at ·

DEVKUMAR JAIN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE,
Shree Jain Siddhant Bhawan
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Foreign:

Inland Rs. 6. Rs. 10 including postage Single Copy Rs. 3/8

CONTENTS

श्री जैन-सिद्धान्त-भास्कर

हीरक जयन्ती

चारुकीर्ति भट्टारक श्री नेमि सागर जी वर्णी

श्रवणबलगोला (दक्षिण भारत)

प्रथम अध्यक्ष श्री जैन सिद्धान्त-भवन-ग्रन्थागार

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol. 22 No. 1 | ARRAH (INDIA) | December 1963

LOHĀCĀRYA'S ĀRĀDHANA: A MISSING WORK

Prof. Dr. A N. Upadhye, M.A., D.Litt., Kolhapur.

A Śramaṇa, a Jaina monk (to a certain extent even a Jaina house-holder) is particular as to how he ends his wordly career. He wants to die peacefully with a balance of mind and in a spiritual meditation. For him, dying is as much an art as living; and he tries to prepare himself for a quiet death almost from the time he begins to understand and reflect upon the problems of life and death.

The Sallekhanā maraṇa is described as giving up the body as a duty or for the purpose of religion on the arrival of unavoidable calamity, distress, old age and disease. "To be able to control one's conduct at the moment of death is the fruit (culmination) of asceticism;" all seers are agreed on this; so one should apply oneself to the best of one's ability to attain Samādhi or Sallekhanā-maraṇa. On that occasion one should give up love, hatred attachment and possessions with a pure mind; and one should obtain in sweet words forgiveness from one's kinsmen and attendants and also forgive them oneself. 'Renouncing duplicity and reflecting on the sins committed in any of the three ways, *kṛta*, *kārita* and *anumata*,

one should take all the great vows of asceticism for the rest of one's days. Banishing grief, fear, anguish, attachment, wickedness and hatred and bringing into menifestation energy and enthusiasm, on one should extinguish the fire of passion with the nectar of the words of scriptures. Giving up solid food by degrees, one should take to milk and whey, then giving them up to hot and spiced water. Subsequently, giving up hot water also, and observing fasting with full determination, he should give up his body, trying in every possible way to keep in mind the five fold obeisance *mantra*."[1] The above procedure of voluntary submission to death should not be misunderstood as suiside, because one who offers Sallekhanā must maintain a balance of mind in which there is no desire to live, no wish for speedy death. There is no fear, no attachment for friends or relatives and no thirsting for any future pleasures. These mental conditions clearly distinguish Sallekhanā from suicide.

When a monk is undergoing Sallekhanā, he has to cultivate either by reflection or by reading or hearing certain pious thoughts in connection with *darśana*, *jnāna*, *cāritra* and *tapas*; and he has to maintain a high standard of detachment, forbearance, self-restraint and mental equipoise in the critical hour of death, and attain thereby spiritual purification and liberation. This process is known as *ārādhanā* Some texts are available dealing with this topic; and they cover a wide range of dogmatical and ethico-religious discussions which are undoubtedly of immense and immediate interest to a monk who wants to win the spiritul battle.[2]

There is a large number of independent Ārādhanā texts besides casual treatment of this subject in a number of canonical and post-canonical works. More than a dozen Ārādhanā texts are already listed.[3] The Bhagawatī Ārādhanā of Śivārya is an important work,

1. *Ratnakaranda-śrāvakācāra* with Prabhācandra's commentary, Māṇikacandra DJ Granthamālā, pp. 89 ff. 24, for its English Translation, *The House-holder's Dharma*, by C R JAIN, Arrah 1917, pp 58 ff.

2. A N, UPADHYE: *Bṛhat-Kathākośa*, Singhi Jain Series 17, Bhāratīya Vidya Bhavana, Bombay 1943, Intro pp 47-8

3. Ibidem pp. 48-50.

quite voluminous in its extent and systematic in its exposition of the contents. It has been subjected to a number of commentaries, both in Prākrit and Sanskrit; and round it are grown so many *kathās* illustarating the careers of those who successfully practised the vow of Sallekhanā-maraṇa.[1]

Śivārya does not mention his sources of the Bhagawatī Ārādhanā; but Prabhācandra, in his *Kathākośa* (close of the 11th century A.D.), has a remark like this.[2]

एतन्महाश्चर्यं दृष्ट्वा शिवकोटिमहाराजस्य अन्येषां चतत्रत्यलोकानां जैनदर्शने महती श्रद्धा। परमविवेकसपन्नः चारित्रमोहक्षयोपशमविशेषवशाच्च परमवैराग्यसंपत्तौ राज्यं परित्यज्य तपो गृहीत्वा सकलश्रुतमवगाह्य लोहाचार्य-विरचितां चतुरशीति सहस्रसंख्यामाराधनां मन्दमत्यस्पायुः प्राण्याशयवशाद् ग्रन्थतः संक्षिप्य अर्हतोऽहे लिङ्गे इत्यादि चत्वारिंशत्सूत्रैः परिपूर्णा मध तृतीयसहस्रसंख्या मूलाराधना कृतवानिति ॥

From this it is clear that Prabhācandra beleived that there was a bigger Ārādhanā of Lohācārya. So far no Ms. of this work is discovered, nor was this observation confirmed by any other independent source.

Very lately a Ms. of a Prākrit commentary on the *Pāncasaṁgraha* has come to light.[3] The opening section of it, which is more or less a *maṅgala* discussion, has really nothing to do with the subject-matter of the *Pañcasaṁgarha* It appears that this *māṅgalika* section formed a part of some Ārādhanā text, and mentions Lohācārya as the first author of the Ārādhanā. The passage runs thus:

तत्थ गुणणामं आराहणा इदि। कि कारणं। जेण आराधिज्जंते अणआ दंसणणाणचरित्ततवाणि त्ति। कत्तारा तिविधा। मूलतंतकत्ता उत्तरतंतकत्ता उत्तरोत्तर तंतकत्ता चेदि। तत्थ मूलतंतकत्ता भयवं महावीरो। उत्तरतंतकत्ता गोदम भयवदो। उत्तरोत्तरतंतकत्ता लोहायरिया भट्टारकअप्पभूदि[-भट्टारयप्पभूदि] अआयरिया।

1. Ibidem pp. 50 ff.

2. Ibidem p 53.

3 Dr. H L. JAIN: *Pañcasaṁgraha*, Bhāratīya Jñānapitha, Banaras 1960, p. 544, The name Lohācārya seems to have missed the attention of the editor, see his remarks in the intro. pp. 39-40

This evidence is important in two ways: first, it is a pointer to the existence of a Ms of the Āradhanā by Lohācārya, and secondly, it goes to confirm the observation of Prabhācandra. We have to see whether any Ms. of it is traceable in any of the Bhandāras.[1]

1 This paper was submitted to the Prakrit and Jainism Section of the 21st Session of the All India Oriental Conference, Srinagar

An Unpublished Sculpture of Jaina Kubera from Rajasthan

SHRI R. C AGARWALA, M A

Superintendent, Archaeology and Museums, Udaipur.

It is a great privilege for me to present a brief account of an interesting sculpture of Jaina *Yaksha* Kubera from Rajasthan. This image was discovered at Bānsī (near Baḍī Sādadī Udaipur region) and now remains preserved in the Victoria Hall Museum at Udaipur (i e. Museum No 117/1066). It measures about 20 inches in height and 16 inches in width. It is also very heavy in weight and has been carved out of a greenish stone block. As a matter of fact it appears to be a charming specimen of the Post Gupta (7th-8th century A.D.) art of the country. The anatomic and iconographic details have been presented in a vivid manner. Here we notice the deity seated in the *lalitāsana* pose on a couchant elephant while the latter faces left. Kubera, here, holds a *nakula* type money-bag in his left hand and a citron fruit in the right one. Besides this, he is shown as pot-bellied (*kumbhodara*). All these devices are to be found in most of the image of Kubera[1]—the presiding deity of wealth and riches.

Still more interesting are the ornaments and garments worn by the deity. The curly hair on his head are hanging on the shoulders —a feature which is so characteristic of the Gupta sculptures and terracottas in India. Still above the curls is to be seen a *mukuṭa* having the figure of a seated *Jina*[2] in the central portion. In the existing sculpture of the Udaipur Museum, we also notice another figure of a meditating *Jina* on the top above his head. This depiction

1. Also called Dhanada etc.

2. Such a miniature figure can also be seen in a figure from Nimthura Gwalior State, No. 40/1974 as cited by B. C. Bhattacharya in his *Jaina Iconography*, Lahore, 1939 p. 155 f.n 1, cf. *ibid*, p. 113 too.

of two miniature meditating figures here is extremely unique and justifies the attribution of the image to a Jaina deity. The ornaments put on by Kubera, here, include a necklace (perhaps made of coins) and above it an *ekāvalī*,[1] round anklets and bracelets, *bhujabandhas*, a flower with a stalk in each of the two ears, a *vanamālā* appearing on the shoulders and hanging below down the belley etc. Besides this, he puts on a nether garment which comes up to his kness only. The details of the cloth of this garment are quite visible and suggest the use of decorated and figured cloth in those good old days.

It is now extremely essential to take up extensive explorations work in Rajasthan and the adjacent regions for more sculptures of this nature. The aforesaid image (from Bānsi) is really a priceless specimen of the early mediaeval sculpture of Rajasthan.

1. So characteristic of the Gupta sculptures

Jainism under the Chandellas

DR R. K DIKSHIT

The wellknown allegorical drama of Kṛṣṇa Miśra, *Prabodhachandrodaya*, staged at the court of Kīrtivarman Chandella,[1] introduces us to a Digambara ascetic in III Act He makes his appearance just as *Śānti* and *Karunā* are making enquiries about *Śraddhā*. They fail to recognise him and wonder whether he is a *Rākshasa*, a *Piśācha* or a *Nārakī* [2] *Karunā* caricatures him disparagingly,[3] while *Sānti* would avoid him as an object causing pollution [4] The Digambara is engaged in disputation (*vāk-kalaha*) with a Buddhist Bhikshu and a Kāpālika. He proves weak and succumbs to the temptations offered by the latter.[5] He is enraptured by the touch of the Kāpālini[6] and eagerly drinks wine 'made fragrant by the touch of her lips'.[7] In the end renounces the doctrine of the Arhats and becomes a desciple of the Kāpālika.[8] The latter is jubilant at his cheap conquest and tauntingly remarks to the Kāpālini "*Priye anūlyakrīta dāsa dvayam labdham.*"[9]

---

1. *Prabodhachandrodaya* (Nirnayasāgara Press, 4th Edition,) p 13
2. *Ibid* pp. 98 100. The Buddhist Bhikshu also addresses him as "आः पाप पिशाचाकृते ..... । *Ib* p, 107
3. *Ibid* p, 99 : जोएवा गलन्तमलपिच्छिलबीहत्सदुप्पेक्खदेहच्छवो उल्लु 'चिअचिरमुक्कवसणादुद्द'-सणोसिहिसिहरडपिच्छिआहत्थो इदो जेव्व अहिवट्टदि ।
4. *Ibid.* p 100 तत्सर्वथा दूरे परिहरणीयमस्य दर्शनम्।
5. He is also represented as an irritable person who says to his rival in disputation: "अलं उज्झि अवुद्धअ, . .. तुमंपि पिदुपिदामहेहिं सद्धं सत्तपुलिसं अम्हाणं दासो त्ति। *Ib.* p, 108
6. *Ibid.* p 120. अहो अरिहन्त, अहो अरिहन्त, कागलिनीए पलमसुहं . ..
7. *Ibid* p, 122: कावालिणी वअणो च्छिट्ट मइलं मदत्थंवि धालेसु। Having drunk, he raves 'अहो, सुराए महलत्तणम्, अहो सादो, अहो गन्धो, अहो सुलहित्तणम्। चिलं खु अलिहन्ताणसासणे णिवडिदेपडिवखिदोह्मि ईदिणेणसुलालसेण। *Ibid.* 123
8. *Ibid* p 120. भो कावालिअ......मंपि महाभैरवानुशासणे दिक्खिय।
9. *Ibid.* p. 13. The two *das's* are the Digambara and the Bhikshu

The perspective of the drama, however, is not historical but sectarian: its aim being to extoll the Vedāntic philosophy and to belittle the rival creeds which are represented as the allies of *Moha*.[1] Its object is clearly revealed in V Act where we are told of the discomfiture of the Lokāyatas, Saugatas, Digambaras, Kāpālikas and other Pāṣaṇḍas[2]

The picture presented by *Prabodhachandrodaya* is vitiated and contrary to historical evidence. The Chandella kings who ruled over Jejākabhukti (modern Bundelkhand) from the 9th to the 14th century A.D., were, no doubt, orthodox Śaivas,[3] but they were by no means uncompromising bigots intolerant of other creeds. There is unimpeachable evidence to show their respect for and patronage of the rival creeds of Budhism and Jainism[4] The former did not make much headway in Jejākabhukti, but epigraphic and monumental evidence leads us to conclude that the *pradeśa* contained a flourishing Jaina community and its holy *kshetras*. Far from imposing any restrictions the Chandella kings even permitted the Jainas to build their temples in the capital cities of Khajurāho and Mahobā, as well as within the fort walls at Ajayagaḍha.

At Khajurāho, there is a compact group of Jaina temples, situated to the south-east of the village, and an isolated temple, the Ghantai,[5] a little to the north of it. The latter as well as the Ādinātha and Pārśvanātha temples of the south eastern group

1. *Ibid* p 100 महामोहप्रवर्त्तितोऽयं दिगम्बरसिद्धान्तः
2. *Ibid* pp 176-77.
3 They styled themselves *Parama-māheshwara* in their official documents and a number of Śaiva temples built by them is still extant to prove their devotion to Him One of these kings Paramardi, claims to have composed beautiful eulogy to Purāri, inscribed on a stone slab in the temple of Nilakanṇtha at Kālinjar (*J.A.S.B.*, XVIII, Pt I, pp. 313-17)

4 The Charkhāri Plate of Paramardideva shows his regard for a Buddhist shrine (*E.I.*, XX, p. 131) Likewise an inscription in the Pārsvanātha Temple at Khajuraho mentions a Jaina, Pahilla, who was held in high esteem by king Dhanga (*Ib.*, I, p. 136)

5. So called because of the bell and chain device on its pillars, which are richly ornamented.

belong to the Chandella period Others are modern structures, built on the ruins of the older ones. The most important of these is the temple of Sāntinātha. It contains a few ancient sculptures, including a standing image of Adinātha, 14' high. Cunningham saw an inscription, dated V.S. 1085, on its pedestal. Now it is hidden under the plaster.[2] The Pārśvanātha temple is the largest and the finest of the ancient shrines. On the left jamb of its entrance door, there is an inscription, dated Monday, the 7th of Vaiśākha Sudi, 1011 (V.S). It mentions the name of king Dhaṅga (*E.I.*, I,p. 136).

These temples do not differ much in style or architectural design ornamentation from their more famous Brahmanical counterparts. Their chief importance lies in the ample material that they offer for the study of Jaina iconography. The extant imagesinclude those of all the twenty-four Tīrthankaras, identified by the inscriptions on their pedestals, or by their respective *lāñchhanas*. Besides, we have representations of numerous other deities of the vast pantheon-both male and female including the Yakshas and Yakshinīs, with their varying number of heads and hands, holding various articles, and provided with their distinguishing *vāhanas*. The sixteen auspicious symbols, and the Jaina adaptations of Navagrahas and Dikpālas, besides Apsarās Vidyādharas, Kīrtimukhas, and mythical lions and elephants also figure here. Certain Brahmanical deities such as Brahmā, Vishṇu, Śiva and Balarāma, with or without their consorts, and in their different forms, appearing prominently among the ancillary sculptures, show the catholicity of the age. There are other figures also which throw a welcome light on different aspects of contemporary life. All these sculptures are masterpieces of art and reflect great credit on the Chandella sculptors.[2]

1. Vide, Dhama: *A Guide To Khajuraho*, p 24.

2 A number of ancient sculptures is built into the modern compound wall round these temples. A large Tīrthankara image of V.S 1215 refers itself to the '*pravardhamāna vijaya rājya*' of king Madanavarman (*E.I*, I, p. 153) The temple of Pārśvanātha, was originally dedicated to Rishabhanātha, as suggested by the figure of a bull carved on the ornamental pedestal into the sanctum. The present image was installed in 1860A D. The main image of the Adināthа temple also is modern.

Khajurāho did not lie in the direct route of the Muslim armies, and therefore, its temples did not suffer much wanton destruction, Mahobā (Hamirpur District, U.P.) the civil capital of the Chandellas, however was not so fortunate. A large number of Jina images, complete or fragmentary, recovered from the city, shows that in former times it must have possessed several magnificient Jaina temples whose sites, too, can not be determined now with certainty. Most of these statues belong to the Chandella period, as shown by the inscriptions on their pedestals. Three images, respectively of Nemināthа, (V.S. 1211) Sumatinātha (V.S. 1215) and Ajitanātha, (V.S. 1220) refer to the reign of king Madanavarman[1] the State Museum, Lucknow, has a good collection of statues from Mahobā.

Ajayagaḍha (Panna District, V.P.) the celebrated fortress of the Chandellas, also boasted of a number of Jaina shrines, which have not withstood the ravages of time. It appears that the banks of the Ajayasāgara tank in the centre of the fort were once lined with Brahmanical and Jaina temples. On its western bank there is a sizeable collection of Tīrthaṅkara images, mostly mutilated Some of them contain dedicatory inscriptions. One fragmentary piece proclaimed by the figure of a krauncha bird perched on its pedestal, to have been the statue of Sumatinātha, bears an inscription to the effect that it was set up in V.S. 1331 by Achārya Kumudachandra of the Mūla Sangha, during the reign of king Vīravarman A roofless chamber nearby still houses a colossal image of Śāntinātha, set up at Jayapur *durgga* (Ajayagaḍha) in V.S. 1335, in the reign of the same ruler. The donor of the image was Sādhu Soḍhala (*A. I.A.R.*, 1935-36, p. 92). Tīrthaṅkara figures are also sculptured in bold relief, on the fort walls, near the two gateways, side by side with the Brahmanical deities

If the surviving remains are any indication, Ahāra, Madanpura (Tikamagaḍha District, V.P) must have vied with Khajurāho as a centre of Jina pilgrimage. We have there an unusually large collection of Jaina images, mostly belonging to the Chandella period.

1. Vide *A.S.R.*, XXI, p. 73; *J.A.S.B.*, Pt. I, Vol XLVIII, p 286; and *A.S.R.*, II, p. 448, respectively.

Most of them are mutilated, but they are good specimens of the art of the age, specially noteworthy for their lustrous polish, which has not lost its shine even after centuries of exposure. The inscriptions on their pedestals contain dates ranging from V.S 1123 to V.S. 1869. They inform us of the names of different *anvayas* viz. Grahapati, Khandelavāla, Lambakañchuka, Paurapaṭṭa Puravaṭa, Medhatāvāla, Golāpūrva Jaisavāla, etc.

The most remarkable of the Ahāra Statues is the one of Śānti nātha 18' high, enshrined in a ruinous temple. It is flanked, on the right by an image of Kunthunātha, 11' high. The one on the left is missing. The central image contains an inscription on its pedestal stating that it was installed in V.S. 1237, in the reign of Paramardideva, by the brothers Jāhaḍa and Udayachandra. The sculptor was *rūpakāra* Pāpaṭa.

The inscription also refers to a 'Sahasrakūṭa Chaityālaya' at Bāṇapura as well as to a 'Śrī Śānti Chaityālaya' at Nandapura, and another Chaityālaya' at Madaneśasāgarapura. The first was built by Devapāla, and the other two by Galhaṇa–evidently ancestors of the two brothers mentioned above. Bāṇapura (Jhansi District, U.P.), 18 miles to the west of Ahāra, still contains Jaina temples of early mediaeval period, as indicated by their epigraphic records. The 'Sahasrakūṭa Chaityālaya' enshrines the images of Śāntinātha, Kunthunātha and Arahanātha. Nandapura is not identified, but Madaneśasāgarapura appears to have been the name of Ahāra itself. It still possesses a large lake named Madaneśa Sāgara after king Madanavarman.

Another site in Tīkamagadha that deserves a mention is Papaurā, 3 miles to the east of the city. It has 75 Digambara temples, built at different times. Most of these buildings, as suggested by the inscriptions on the images enshrined in them belong to XVI-XIX centuries of the Vikrama era. But Papaurā was an important Jaina centre even under the Chandellas. This is evidenced, not only by the architectural remains, but also by epigraphic records. The oldest structure here, now a sort of an underground cell, has three images. The central figure has no inscription, but the two side ones are

dated in V.S. 12(02, during the reign of king Madanavarman, whose name actually occurs on the image to the left.

Devagaḍha (Jhansi District, U.P.), so famous for its Gupta temple, too, must have been an important Jaina centre in the Chandella dominions It has an extensive group of Jaina shrines and 'an enormous wealth of loose sculptures'. These shrines contain images of Tīrthaṅkaras, sometimes of colossal size, and other deities. The earliest inscriptions in these temples belong to the 9th century A.D, but some of the buildings may be even earlier. They continued to be constructed upto the middle of the 18th century.[1] The place owned the sway of the Chandellas at least during the 11th and 12th centuries. It has yielded an inscription of the time of king kIrtivarman. It is dated in V.S. 1154 and records that his minister, Vatsarāja, who 'wrested the surrounding country from the enemy' built the fort of Kīrtigiri, apparently named after his master (*I A.*, XVIII, pp. 237 ff).

It is not possible to describe, within the space of an article, all the Jaina monuments that existed within the extensive dominions of the Chandellas, but mention may be made of Madanapura, Dudahi and Chāndpura, all in Jhansi district, where temples dedicated to the Tīrthaṅkaras existed side by side with the Brahmanical shrines. Most of them belong to the 11th and 12th centuries. Isolated Jina images of the same period have also been found at a number of places, notably at Chhatarpur and Tīkamagadha. Some of them are dated and bear the names of the Chandella kings. The dominions of their Kachchhapaghāta feudatories are also rich in Jaina remains.

The facts summarised above are sufficient to show that the Chandella rulers following the noble traditions of Indian royalty, allowed the Jainas full freedom to preach and practise their religion. The latter, too, responded with great enthusiasm, and beautified the face of their *pradeśa* with many a stately edifice. Some of them, indeed, deserve to rank among the best specimens of mediaeval art, Jejākabhukti must have then contained at flourishing Jaina community, with a preponderance of the Digambaras.

1. *Memoir Of The Archaeological Survey Of India*, No, 70, p. 2.

Most of these monuments have suffered wanton destruction at the hands of iconoclastic invaders. Time and neglect, too, have taken a heavy toll. The deserted shrines were fast encroached upon by the forest and became the haunts of wild animals. That, however, proved a blessing in disguise, and saved them from the unfriendly eye. Their rediscovery by the Archaeologists is a matter of recent history. The following statement of Captain Charles Strahan in respect of Devagadha is true of almost all the places mentioned above: "The jungle is the heaviest in the immediate neighbourhood of Deogarh, where the Betwa is overlooked on either bank by rocky cliffs once sacred to Hindu shrines, whose ruins display the utmost profusion of the art of sculpture, but which now hardly overtop the surrounding trees [1]

1. *General Report On the Topographical Surveys Of India*, 1870 71, Appendix A, Gwalior and Central India Vide *A.S.R*, X, p 104, n.1.

The Jain Sidhanta Bhawan--An Introduction

The "Jain Sidhanta Bhawan," better known as the "Central Jain Oriental Library," Arrah, is a big name on the map of cultural and research institutions of Northern India Having stepped to life in the first decade of the twentieth century it virtually became the precursor of a mighty movement, the religious and cultural rennaissance of a community. It has developed several dimensions, the distinctions of being a great seat of religious and cultural activity; one of the greatest collections of old manuscripts and rare religious books; and a notable centre of academic and research work. But that is not all; it is still the embodiment of a great idea—the first flicker of religious and cultural life of this known in this country.

This institution was founded in the year 1906 by late Sri Devakumar Jain, a great scholar and philanthropist of Arrah. The Inspiration for such an institution came to him while he was on a long pilgrimage to the sacred shrines of South India. He had the occasion of visiting the collections of valuable manuscripts at several places and moved to see their ill fate facing gradual destruction due to the ravages of time He brought several manuscripts with himself while got some others copied. That was the seed from which the great idea was born.

Shri Devakumar Jain, however, did not live long to see his idea flourish. Nevertheless, he had established a Trust to finance and administer the affairs of the Institution His son, Shri Nirmal-Kumar Jain was a very dynamic person and the library took great strides under his intelligent stewardship Beside the valuable works done by other able Trustees, he stepped up the work of collection of valuable manuscripts from all over India and thus within a period of ten or twelve years 3179 manuscripts on palm leaf and 3500 manuscripts on paper were collected. Most of these manuscripts are believed to be at least five hundred years old.

Besides the manuscripts, the Library has a valuable collection of nearly 9000 published books on religion, philosophy, History

and Literature in nearly all the Indian and some foreign languages. Some of these books are very costly and not easily obtainable.

There was also an attempt to collect old paintings pieces of art and old coins. Most conspecuous among these collections are the illustrated "Jain Rāmāyan" and the 'Bhaktāmara' There are nearly two hundred paintings in Jain Rāmāyan alone in excellent Mogal and Rajput styles. Among paintings on mythological subjects, treatment of the sixteen dreams of Chandragupta, the sixteen dreams of Tīrthankar's mother and the Pāwāpuri Temple are noteworthy as pieces of excellent art.

Shri Nirmal Kumar Jain was not content in making these valuable collections. The body must correspond with beauty of soul and so he started the construction of a grand building to house the Library. The Saraswati Bhawan was completed in the year 1926 and is an elegant piece of architecture.

The research section of the Jain Library has published several books and research papers of great value.
It has been publishing a research bi-annual Journal "The Jain Antiquary" since the year 1935 regularly. The Library has drawn devoted research scholars from far and wide and nearly three dozens of scholars have obtained Ph D and D- Litt. degrees by working on the materials available here. There are still research scholars working here on Jain Sanskrit Anthology, 'Dohā' Literature in Apabhraṁśa, the Jain poetry in Sanskrit and poet Rayadhu of the Apabhraṁśa literature.

The "Jain Sidhanta Bhawan" is thus a great centre of knowledge and learning, a real shrine of goddess Saraswati, whose beautiful bronze Image presides over the deliberation of the Library.

× × ×

मेरे मित्र बाबू निर्मलकुमार जी ने आज मुझको "जैन ओरियंटल लाइब्रेरी" देखने का अवसर दिया। इसको देख कर मुझको अति प्रसन्नता हुई। यह लाइब्रेरी जैन धर्म ग्रन्थों में रिसर्च-अन्वेषण के कार्य के लिये बहुत उपयुक्त है। यह इसके स्थापन-कर्त्ता बाबू देवकुमार जी की धर्म साहित्य प्रचार की प्रीति की प्रकाशक और उनकी कीर्ति को स्थायी रखने में सहायक होती हुई जैन धर्म साहित्य के प्रेमियों को सदा ज्ञान और आनन्द-वर्धक होगी।

२३—५—२६। मदनमोहन मालवीय

इस भवन की स्वच्छता, शांति और उसके पुस्तक भंडार को देख कर मुझे बड़ा आनंद हुआ और उसके प्रणेता के लिये हृदय में आदर हुआ।

पो० कृ० ९, मोहनदास कर्मचन्द गांधी

सन् १९२७

आज पं० भुजबली शास्त्री जी की कृपा से "जैन सिद्धान्त भवन" की पुस्तकों का संग्रह देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह पुस्तकालय जैनशास्त्रों के मनन-चिन्तन के लिये अत्यन्त उपयोगी है, पुस्तकों का संग्रह बड़ी सावधानी के साथ किया गया है। सभी पुस्तके चुनी हुई हैं। इस प्रकार की पुस्तकों का संग्रह करना ही पुस्तकालय का कर्त्तव्य है। मुझे इस संग्रह को देखकर बड़ा आनन्द हुआ। इसे देखकर मेरी हार्दिक अभिलाषा हो रही है कि कभी अवसर मिले तो इस शान्त पवित्र पुस्तकालय में आकर कुछ समय व्यतीत करूँ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

१-१०-३३ शांति निकेतन (बंगाल)

Raj Bhawan
PATNA, Feb., 9, 1953

I never expected that I would stumble upon such a fine and rich manuscript Library in a place like Arrah. It is necessary, however, to investigate fully the content of all the manuscripts and make arrangements to publish a full index and take up the publication of such of them as have not seen the light of the day.

I highly appreciate the efforts of the organisors and wish them success.

S/d R. R. Divakar

Visited on 28-1-53.

Arrah, 31th October, 1955

I have been happy to stay in Arrah for fifteen days to study the Jain conception of Ahimsa. I am a research student of Benaras Hindu University and writing a thesis on Non-Voilence as an Ethical Principle with special reference to the view of Mahatma Gandhi. I have got many books here on Jain Ethics which books are not avilable there in Benares. For a research student this place is an ideal one Books are available atonce without any formalities and waiting like in bigger Libraries. And moreover the place is so quiet. I am thankful to Sri Subodh Kumar Jain and the Librarian for all these facilities.

S/D Unto Tahitian
M. A.
Research Scholar – Finland

जैन सिद्धान्तभवन आरा जैन विद्या का प्राचीन शोध संस्थान है। इसके द्वारा प्रकाशन और शोध का मूल्यवान कार्य अब तक हुआ है। यहाँ के हस्तलिखित ग्रन्थों का भंडार भी भारतवर्ष मे महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इस संस्था के पास अपना भवन पुस्तकालय आदि है और उत्साही कार्यकर्त्ता भी है। अब आवश्यकता है कि शासन और जनता इसके लिये अपना सहयोग देकर इसकी अधिक उन्नति करे। वर्तमानकाल में इस प्रकार की संस्था द्वारा ही संस्कृति की सच्ची सेवा हो सकती है।

५।४।५६ वासुदेव शरण अग्रवाल
काशी विश्वविद्यालय

जैनसिद्धान्त भवन देखने का अवसर आज मुझे प्राप्त हुआ। जैनधर्म और दर्शन तथा अन्य सम्प्रदायों के ऊपर इसमें कई सहस्र मुद्रित एवं लगभग आठ सहस्र तालपत्र तथा कागज पर लिखे हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित है। इनमें कतिपय अत्यन्त प्राचीन और दुर्लभ है। शोध छात्रों के लिए प्रचुर सामग्री यहाँ उपलब्ध हैं। व्यवस्था अत्यन्त नियमित और प्रशंसनीय है। इस भवन की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए अनेक शुभकामनाएँ हैं।

राजबली पाण्डेय
फाल्गुन कृ० ६ सं० २०१६ वि०
आचार्य भारतीय महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

We are grateful to Mr. Subodh Jain for having invited us to the Library. It is a unique institution. We have today learnt a good deal about the Jain religion and beliefs. Some of our previous incorrect impressions have been corrected today. We are thankful for the opportunities to visit the Library and to view so many precious and valuable historical documents.

1-3-60

M A R. A.
Rampoor, Burma

श्री जैन सिद्धान्तभवन का पुस्तकालय देखकर संतोष हुआ। आशा करता हूँ कि इस ज्ञान-गंगा से बहुत लोग लाभ उठायेंगे और अपने जीवन को कृतार्थ करेंगे।

२-४-६०

काका कालेलकर,

We were extremely happy to visit this institution and spend some time here. The Library is well kept and every thing here has a neat and likeable appearance. If institution can arrange to maintain a few Research fellows, this can grow into a fine Centre for research in Jain studies. A good deal of material is already collected here and regular attention may be given to enrich the section of Oriental literature. Shri Nemi Chand Shastri has a keen interest in Jain studies, and he is eager to see them advancing day to day. We wish a great future for this institution.

S/D Dr. A N Upadhye
Professor Rajaram College
KOLHAPUR
S/D Dr. H. L Jain
Professor N M. V. Nagpur.

This insitution has done great service to the cause of Jain culture and has helped many scholars in their research activities. It has a unique collection of printed books and ancient manuscripts.

The Prakrit Department of H D. Jain College looks to this institution for its future development and Magadh University should take keen interest in developing this institution as a centre of oriental research, specially research in Jainology.

I am much impressed by the collectivity of the outlook of the organisors of this institution, which is evidenced by their selection of books of various subjects of Indology, Jainology and Ahimsa.

Nathmal Tatia

25-7-62 Director

Research Institute of Post-Graduate Teaching and Research in Prakrit Jainology and Ahimsa, Muzaffarpur (Bihar).

I am happy as a citzen of a friendly country to visit a Free India

I am also glad to have been able to see this Library and to learn a little of Jain philosophy

I appreciate the friendly hospitability of all here.

S/D DONALD
27-1-1963
The country Hall, LONDON S, F I

"THE NATURE OF UNCONDITIONALITY IN 'SYĀDVĀDA'

Prof. Ramjee Singh. M A. Ranchi.

In this paper, I propose to discuss only one point that was raised by several reputed scholars when I read my paper on "Syādvāda—An Epistemological Solution of World-Tension" before the logic and Metaphysics Section of Indian Philosophical Congress held in Ceylon.

As a way of exposition, I have to say that Syādvāda is the doctrine of the relativity of Judgment, which follows as the reductio-ad-absurbdum from Jaina Doctrine of Anekāṅtavāda or Manifoldness of Truth. Since things have many characters or there are great complexities in nature, they are objects of all sided knowledge. Any particular object can be viewed from different points of view. So when we speak of a particular aspect, we have to use the word 'Syat' i e, from a particular point of view or as related to this aspect, this object is such and not otherwise. So when an object which anekāṅtātmaka is expressed in a particular form of judgment, the expression is known as Syādvāda. To them, unlike the Sceptic and the agnostic, there is reality; its nature is such and such; still it is possible to understand it in quite opposite ways". However we can not fail to see the non-violent and tolerant attitude of the Jainas which is responsible for their uttermost carefulness regarding speech which was required to be unassulting as well as true. It is this attitude of tolerance and justice that was responsible for the origin of the doctrine of Non-absolutism. (Anekāṅta) Out of universal tolerance and peace-loving nature was born cautiousness of speech. Out of cautiousness of speech was born the habit of explaining Problems with the help of Siyāvāya (i e Syādvāda) or vibhayjavaiya. Our thought is relative, so is our expression, Our absolutistic attitude is an error.

With this end in view, scholars have developed a wonderful organon of Saptabhaṅgī, where we find the Pluralastic doctrine of the Jaina Dialectics. Every proposition of the dialectical seven-fold judgment is of two kinds complete and Incomplete. Incomplete-judgment, we use one word that describes one characteristics of that

object, and hold the remaining characteristics to be identical with it This is also called Pramāṇa Saptabhaṅgī. Then there is Incomplete judgment or Naya, which is a way of observation and approach. Here we speak of truth as relative to our standpoints.

In short, every proposition gives only a perhaps, a may be or a Syāt. Every judgment is true but conditionally.

But logic is a hard task-master. The Jainas have been charged for duplicity in their behaviour. The statement that propositions are conditional, can not be a sweeping remark It cannot be a Universal affirmation For, then it will mean that "all statements including even the statement that 'all statements are conditional' would be conditional This would perhaps upset them. So all propositions except the propositions of its own system have relative truth. True they treat the alternatives only as alternatives and not as disjunctives in which alternatives are mutually exclusive, they are nevertheeless making a categorical judgment. The Jainas say that all the seven alternatives are true and so their seven fold conditioned predication is an all comprehensive categorical statement. Does this mean that their doctrine is a doctrine of relativity of knowledge but not relativity of truth ? Of course, yes. The Jainas do hold that their own system is absolutely true and reality is absolutely what their system represents it to be But if our knowledge is relative then our knowledge of relativity also can have only relative truth.

So we come to this; the statement that "Every statement is conditional" may in a sence be taken as itself un-conditional. This is unconditionality in conditionality or definiteness in in-definiteness when the Jainas say that "every thing is conditional" they are unconditional atleast to this extent that every thing is conditional. Now does this not mean a contradiction ? They at least *preach one thing* and practice quite the other thing. So by the very implication, absolute conditional assertion can not be made.

But before we accept this, let us examine what we mean by an un conditional or categorical proposition. A categorical proposition is one in which the relation between the Subject and the Predicate is simple, unconditional one. According to Bosauquet a categorical

judgment asserts an actual fact absolutely (Log. Vol I. P. 88). However the Idealists find in all categorical judgments an element of hypothesis. Every judgment affirms an idea of reality and therefore asserts the reality of an idea which involves an abstraction and abstraction is the essential element of hypothesis. Thus in all categorical judgments there is an element of hypothesis.

However we are concerned more with this particular judgment that "everything is conditional" which we want to brand as "unconditional" Now let us take an example when we say after waking from deep-sleep I say "Had no knowledge" (C. F. Mandook 3. 5. Bhatta's Position in Vedant Sara). Still I can not deny that I have at least the knowledge that 'I had no knowledge'. But there is no clash between this knowledge and having no knowledge So we must recognise the facts of "knowledge having no knowledge", without any fear of contradiction.

Similarly, when I say "I am un-decided" (when I am extremely purplexed about everything) there is indeed one decision or assurance that I am undecided. But this decision does not quarrel with my indecision Hence there is no contradiction here.

Similarly, in Logic, we have disjunctive judgment. "The signal is either red or green," "A man is either good or bad" etc. (Refer Bradley's Logic. Vol. I P. 130). We do mean something categorical behind it. But this categoricality does not clash with the proposition being disjunctive. True, the basis is always categorical, but this categoricality is not like the categoricality of a simple unconditional judgment "The horse is red".

Examples may be multiplied. When a logical positivist will say that there is no metaphysics' or when a Sceptic will say that "there is nothing real" so like Hydra it raises its head over and over again, not to be destroyed afresh, but to conquer a new. So we see that no sooner we have driven anything out of the front door, then it enters from the back door again.

Thus we are led to believe that the unconditionality in the statement that "all statements are conditional" is quite different from the normal conditionality. The question is how and why ?

There are primarily two sources to understand the world-senses and reason-closely corresponding to them, there are two grades of Reality-existence and essence (as the existentialist will tell) or existence and reality (as Hegelians will say) Existence is actuality. This is actual verification. This is unconditional absolute and categorical. There is no alternation or condition, being monistic and unilateral in attitude. But there is another thing. Thought is but rational thought or simply reason. Thought gives us essences either by a sort of reflection or by way of hypothesis and then interprets the World in terms of those essences. However this *interpretation* is not verification. There may be alternative essences or hypothesis in terms of each, which the World can be interpreted. Thought therefore, is not concerned with existence. But with essenses and there is always the possibilities of alternative essenses or hypothesis. This is exactly what we mean, when we say that everything is conditional. To thought or Reason thus everything is conditional. To thought, everything is alternative.

But we cannot live in the World of thought alone, we cannot forget existence. But this attitude to existence must be other than thought or reason. And what is other than Thought or Reason must be un-reason or irrationality This irrationality leads us to existence. Which as such is unconditional. Behind reason there is always the unreason. We can give the name *of faith* to this phenomena of unreăson or irrationality as Kant and others have also suggested. There are many grounds of faith—one being the Scripture. Scripture differs from one another. So one has faith in Jaina Scripture and other in Hindu Scripture and so on. Jainas must stick to their own position. Here is definiteness. However we cannot expect such definiteness in other side. Reason only offers alternative pictures—Jaina, Advait, Vaiṣeśika–all are equally *possible.* But do we always obey the command of reason ? No, we have also our interest in irrationality. Hence in order to avoid indefiniteness, etc. we stick to one such possibility which is chosen for us by the community to which we belong or by some superior intuition. Thus there come un-conditionality. However, another man may choose another possibility as existent if he belongs to another community

or if his genious moves in another direction. So there appears to be again alternation (conditionality hypothesis) among *exis'ents*- But this alternation is not genuine. There is alternation only so far as we think "there is alternation only on thought level. We compare our thoughts with other thought. And what is comparison ? Comparison involves thinking or reasoning. It is a thought-process. So we are bound to admit alternation. So far my standpoint is only *possible* one. But over and above this, I must adopt one standpoint for I cannot always fly in the air of possibilities. I must have moorings in some one definite form of actuality. Here I stand upon the solid ground of existence. Thus we see that Jaina theory elaborates a logic of in-determination not in reference to the will but in reference to thought. This saves it from scepticism It represents, no doubt, toleration of many modes of truth. Jainism is thus against all kinds of absolutism and imperialism in thought. For each community there is a special absolute. The Absolute themselves are alternations. So far as they are possibles, but alternation remains till we are on thought-level But when I have choosen one and stick to it, it is more than possible, it is existent or actual and other forms of absolute are thus pssibilities to me. While I think reason or argue with other then again I treat my absolute as one among the many asbolutes hence there is no attitude to existence.

So we find a wonderful reconciliation between conditionality and unconditionality. Everything is conditional on thought-level, but not on the level of existence. Thus there is no real contradiction So on the thought-level the dictum of Syādvāda "Everything is conditional", holds good, but when we adopt the point of view of existence or attitude to existence, we are bound to rest on un conditionality.

SOME JAINA SAṀSKĀRAS.

Dr R. M. Das, M.A., Ph. D.
Magadh University, Gaya

It is a fact that a truely great writer is neither unaware of the tradition nor immune from influences of his environment. He both belongs to and improves upon the tradition by synthesizing the past with the present. Jinasena, the author of Mahāpurāṇa is no exception to this rule In the true spirit of the Anekāntavāda of Mahāvīra he adopts the ancient traditions of the land but not without necessary prunings and thus harmonises them with the practices of Jain Culture. Thus Jinasena's present work is a great synthesis of Hindu and Jain Culture.

According to the Hindu Dharma Śāstras the Saṁskāras are intended to sanctify the body, beginning from the moment the foetus is laid to the death of a person[1] The number of these Saṁskāras differs according to different authorities[2].

The Mahāpurāṇa also regards these Saṁskāras as purificatory rites. It says, "Like a presious stone taken out from a mine this human soul attains perfection by means of purificatory rites done along with sacred Mantras[3]" It describes almost the same Saṁskāras that we come across in various Sūtra and Smṛti works of the Hindu, the only difference being that whereas in the latter the caste and sometimes the sex[5] of the persons are taken into consideration at

---

1. वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
   गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौञ्जी निबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।
   Manu 2/26-27
2. The Gṛhya Sūtras enumerate about forty while the Gautama Dharma Sutra names forty eight. These Saṁskāra are treated in minute details in the Gṛhya Sūtras.
3. विशुद्धाकर सम्भूतो मणिःसंस्कार योगतः। यात्युत्कर्षं यथात्मैवं क्रिया मन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥
   See also— M P 39/90
   सुवर्ण धातुरथवा शुद्ध्येदासाद्य संस्क्रियाम्। यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादितः क्रियः
   M P. 39/91.
4. मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥
   Manu 2/31.
5. अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः। See also—Manu 2/36, 45.
   संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ Manu 2/66.

the time of the performance of the rites. the former has no such consideration at all. In the eyes of Jinasena the birth as well as the sex has no importance in determining the social status of a person; it is only his actions that determine his place in the social framework He alone, who observes the vows of Ahiṁsā, Satya, Achaurya, Brahma charya and Aprigraha, is a Brahmaṇa and as a symbol of his vows he puts on the sacred thread[6]. The parable of the sprouts makes it quite clear that the basis of brahminhood is only the Vrata Saṁskāras. From among the Ksatriyas, Vaiśyas and Śūdras, they alone are designated as Brahmiṇas and honoured with gifts who are too compassionate to tread upon the green sprouts[7].

Some of the main Saṁskāras described by Jinasena are as follows:

(a) Ādhāna :—This is the foetus-laying ceremony and corresponds to the Garhādhāna Saṁskāra of the Hindus. It is in continuation of the pledge taken by the marrying parties to fulfil the obligation of continuing the family line. In it the husband keeping his wife in his front, who had taken her fourth day ablution, worships Arhantadeva with mantras and places three chakras to the right, three chhatras to the left and three Agnis in front of the idol of the diety. Then he performs Āhutis in the three fires with a desire to get a son[8].

(b) Priyodbhava :—It corresponds to the Jātakarma ceremony of the Hindu Dharma Śāstras. In it a series of rites are performed with mantras. This celebrates the advent of the child in this world[9].

(c) Nāmakaraṇa :—It is performed after the twelfth day of the birth of the child or on the day which is pleasing and favourable to the parents. In keeping with their financial condition the worship of Arhantadeva, the Ṛsis and the Brahmanand is performed. The name to be given is denotative of prosperity or is selected from the one thousand and eight names of Jinendradeva[10].

---

6 M P—38/40-43
7 M P—38/8-20
8 M P.—38/70-76
9. M P—38/85-86
10 M P.—38/87 89

(d) Bahiryāna :—This is the same as the Niṣkrmaṇa ceremony of the Hindus. It is performed after three on four months of the child's birth on an auspicious day in accompaniment of the sounds of auspicious musical instruments. After the performance of this rite the child can be taken out from the room from which it was born. On the occasion of this ceremony the child gets presents and gifts from its relations[11].

(e) Annaprāśana : —After the expiry of seven or eight months the child is fed with cooked food for the first time and on this occasion Arhantadeva is worshipped and fire oblations are performed[12].

(f) Kesavapa : —This is the Chūḍākaraṇa ceremony of the Hindus. In this on some auspicious day the head of the child is shaved leaving behind a tuft of hair untouched. Then he is made to take a ceremonial bath and put on ornaments. Then he pays his respect to the Ṛṣis and to his elders and gets blessings from them. This ceremony introduces the child to the rules of bodily hygiene[13].

(g) Lipisamkhyana :—This is the Vidyārambha Saṁskāra of the Hindus It is performed in the fifth year when the child is introduced to the alphabet. After the performance of various religious rites the child is placed for his studies under a dutiful and pious house-holder[14].

(h) Upaniti :—This corresponds to the Upanayana Saṃskāra of the Hindu Dharma Sastras. In the eighth year of the child, irrespective of his caste and sex, this Saṃskāra is performed. In it the head of the child is shaved and he puts on girdles made of munja grass. He goes to some Jain temple and there he puts on white dhoti white dukūla and the sacred thread of seven bands indicative of seven Paramasthanas. The boy has to undergo a ceremonial begging and the major portion of what he thus gets is dedicated to, Arhantadeva, keeping the remaining for his food. Now onwards he has to observe the vows and duties laid down for a brahmachari and study different branches of Science, Literature and Philosophy[15].

11. M. P.—38/90 92
12. M P —38/95
13. M. P—38/98
14. M P.—38/102-103
15 M P —38/104-120

(i) Vratavarana : – This is same as the Samāvartana rite described in the Hindu Dharma Sastras. It celebrates the return of the student to his ancestral home after the completion of his studies. Now he gives up the special vows of student life and observes the general vows prescribed for a snatāka[16].

(j) Vivāha :—This Saṃskāra marks the individuals entry into the Grahasthāśrama. With the permission of the teacher he marries a girl belonging to a good family. The nuptial rites are performed before the three agnis which have been properly worshipped, whereas the vivāhotsava is performed before the idol of Siddha Bhagavana. After marriage the partners are to observe brahmacharya for seven days and then are required to go on pilgrimage to different sacred places. After returning from there they are allowed to start their regular conjugal life[17].

These are some of the important Saṃskāras described in the Mahāpurāṇa.

---

16. M. P.—38/121-126
17. M. P.—38/127-141

THE LEADERS OF THE DRAMILA OR DRAVIḌA SAṀGHA

Dr. Jyoti Prasad Jain, Lucknow.

The history of the religious and cultural activity of the Jainas in the Dramila desha (or Draviḍa-desha), the ancient name for the Tamil regions of South India, dates from the times of Bhadrabāhu I (4th century B. C.), the last Shruta-Kevalin[1]. After him, the renowned sages Kunda Kunda (8 B.C.-44 A.D.) and Samantabhadra (ç 120 185 A D.) pioneered the Jaina movement in those lands while sage Siṁahnandi helped in the foundation of the Western Ganga Kingdom of Mysore about the close of the second century A.D.[2].

It was however, from the times of Pūjyapāda Devanandi (ç. 465 524 A D.), the reputed guru of the Ganga monarch Durvinīta Kongini, that the movement began together unprecedented momentum. In the latter half of the sixth and early part of the 7th century, a number of eminent Jaina ascetic scholars contributed to make Tamil Jainism reach its high watermark. Vajranandi (or Vajrasūri), a near successor of Pūjyapāda, founded the Dramila Saṁgha as a regular institution in the year 526 (probably 604 A. D.) and made Madura (the capital of the Pāṇḍya Kingdom) its head quarters[3]. He was also a great scholar and was the author of *Navastotra*, 'an elegant work embodying the variety of the teachings of all the Arhats[4]. It is to the credit of this Ḍramila Saṁgha, as rejuvenated and established by Vajranandi, that most of the best works of the Sangam age were produced the term Sangam probably having been derived from the Saṁgha, (i. e., Draviḍa Saṁgha of the Jainas) Majority of the authors of this age was naturally Jaina by faith And these Jain works in the Draviḍian languages, apart from their religious or philosophical importance and their high literary merit, are very valuable for the social and cultural history of those

1. Lewis Rice . *Mysore and Coorg from Inscriptions*, pp 2-10; Narsimhacharya, R. *Inscriptions at Sravaṇa Belgola*, pp. 36-40, Smith, V.A. : *Oxford History of India* pp 75-76
2. cf. Jain, J P : *Jaina Sources of the History of Ancient India* chs. VII and VIII
3. *Ibid*, Ayangar, R.S : *Studies in South Indian Jainism*, p 52, *History of Tamils*, p 247
4. *E C*, II, 67, pp 25-26; V, Ak, I, V Bl. 7, VI Kd 69

lands with respect to ancient times. These Jain writers also enriched the Tamil literature by writing valuable works on secular subjects like grammar, lexicon, prosody, mathematics, astronomy, etc.[5] Hence the importance of the foundation of the Dramila Saṁgha in 604 A D. and of its chief pioneer, Vajranandi (c. 582-604 A.D), is obvious.

Of the more important leaders of the Dramila Saṁgha, Gaṇa nandi, the preceptor of Vajranandi himself, and a grand-disciple of Pūjyapāda[6], was like the latter a great grammarian to whom the *Jainendra-prakriya avatarā*, a recast of the *Jainendra*, is attributed[7]. He is one of those Jaina gurus who are said to have been responsible for the diffusion of Jainism in the Tamil country. An inscription of 1175 A.D. describes him as 'can emperor of good conduct, pro ficient in logic, grammar and other sciences, a master of literature, a lion in smiting the herd of intoxicated elephants, the false desputants', etc[8]. He would belong to *circa* 550 A.D.

Vakragrīva, the author of *Navaśabdavāchya*, a work probably on the subject of coining new words, is said to have been associated with the Dramila Saṁgha. In Inscriptions he just precedes Vajranandi[9] and would thus belong to *circa* 575 A.D

Pātrakeśarī was an eminent Jain logician of this period. He wrote his *Trilakshaṇa Kadarthana* in refutation of the Trilakshaṇa theory of the Buddhist logician Dignāga (345-425 A D)[10]. Akalaṁka refers to him merely by the respectful term 'Swāmi', which fact led to some confusion even in the minds of Akalaṁka's commentators[11] but which also proves that Pātrakeśarī must have lived quite close in time to Akalaṁka.

Sumatideva or Sumati Bhaṭṭāraka has been mentioned alongwith Vajranandi and Pātrakesari and before Akalaṁka in several ins-

5. Chakravarty, A.C *Jaina Literature in Tamil*, Ramchandra Dixitar · *Studies in Tamil Literature*; Ayangar, *Op cit*, pp 76-77, 81-104
6 *Jain Siddhanta Bhaskara*, 1 4, pp 78. 81
7 Velankar, H D *Jinaratnakosa*, p 146
8. E C, II, 127, p 52, Saletore, B. A : *Mediaeval Jainism*, p 232
9 Rice, *op cit*, p 196
10 cf *Nyayakumudchandra*, Part I, Introduction
11 *Ibid*

criptions[12]. According to Vadirāja (1025 A.D.) he wrote a commentary on the *Sanmati Sūtra* of Siddhasena[13].

Śrīvardhadeva, the author of *Chūḍāmaṇi* is a celebrated name in South India An inscription of 1129 A.D. mentions him alongwith Chintāmaṇi, the author of a work of the same name (*Chintāmaṇi*), and after Pātrakesari but before Akalaṁka[14]. Some scholars have identified him with Tumblūrāchārya, the author of a commentary, also named *Chūḍāmaṇi* on the Digambara Āgamas[15]. It is curious to note that the work *Chūḍāmaṇi* and its author are equally claimed by the Tamilians, the Kannadiga, the canonical writers and the Sanskrit poets. His association with the Dramila Saṁgha and his contemporaneity with Pātrakesari and Akalaṁka and, above all, with poet Daṇḍin who has praised the poetic talents of Śrīvardhadeva[16], places the latter in the early part of the seventh century.

These are some of the known and more celebrated names connected with the activities of the Jaina Draviḍa Saṁgha when it was at its best. Soon, however, there was a serious reaction. Sectarian antagonism was aroused and ruthless persecutions of the Jains at the hands of the Śaiva Nayanars in the Pāṇḍya country and of the Vaishnava Alvars in the Pallava region in the succeeding centuries tried to efface all traces of Jainas and Jainism in those lands[17]. Nevertheless, the valuable cultural heritage left behind by the Jainas of the Draviḍa Saṁgha came to be a permanent asset of the peoples of South India

12 E C, II 67, pp 25-26, V Bl 17, pp 51 ff

13. *Anekanta*, IX, 11, p 419

14 E C II .67, p 26

15. Narsimhacharya, R · *Karnataka Kavicharite*, part I, p 8 f. n. 1

16 E C, II, 67, p 26

17. Ayangar, *op. cit*, pp. 61-71, 79, Saletore, *op cit.*, pp 278-279

A UNIQUE STONE HEAD FROM MATHURA.

Sri K. D. Bajpai, M. A., University of Saugor M P.

The stone head described here was found by Sri Govind Charan, a Curio dealer and Museum Agent of Mathura. It is now preserved in the State Museum, Lucknow. (Museum No. 46.80). The head is made of the well-known red sand stone of Mathura, so abundantly found in Mathura and Agra districts. It is apparently a female head with finely carved out features. Although the right eyebrow, the nose and the chin are partly damaged, yet this head can be reckoned among the loveliest Kushāṇa female heads so far obtained Mathura

The hairdress is very tastefully done. Over the forehead, in the centre, the hair has been arranged in the form of a semi-circle On the two sides fall the wavy hair lines which look like the flowing of two streams A creeper-decoration is also seen at the back of the wavy lines of the hair.

In the centre of the above mentioned semi circle of the hair can be seen a jewel fastened to the hair. This is a very remarkable ornament depicting a miniature image of Sūrya seated on his chariot of horses. The chariot is represented by two running horses, one on each side. The sun god is shown here in the northern style (*udīchya vesha*) wearing a coat of arms. In his both hands he is holding stalked lotuses The face of the god is partly damaged

It is interesting to note that in one of the earliest stone images (Mathura Museum No. 269) of Sūrya from the famous Jaina Site, Kaṅkālī Tīlā, Mathura, this god is represented in almost the same style as we find him in the present ornament. In the stone image also Sūrya is shown clad in the northern style. The number of horses is also two. This image belongs to the early Kushāṇa period. In anothar image of Sūrya in the Mathura Museum (No D. 46), of about 200 A. D, the god is seated squatting on a chariot drawn not by two but four horses. This is similar to the figure of Sūrya on a railing pillar at Bodh Gaya. The number of horses in the Gupta and Medieval times becomes seven instead of two or four.

The present female head is, therefore, one of the most interesting heads from Mathura. It is probably the finest of its kind depicting the *udīchya-vesha* figure of Sūrya on an ornament of the forehead.

A FEW HOURS IN THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(A NEW LIGHT ON THE 'SONG OF SONGS')

Prof Kapil Deo Tiwary, M.A., Arrah.

In one of my recent ramblings to the temples of learning, I happened to be dropped down in the well renowned Central Jaina Oriental Library, Arrah, one of the greatest seats of learning in the state of Bihar. I was simply wonder-struck to see the rare collection of rare books, manuscripts palm leaf compilations, encyclopaedias and dictionaries. Not that only the large number of rare manuscripts and palm leaf volumes (which number about three thousand) attracted me most, but some of the rare printed books, old, generally not available, out-of-print ones, also facinated me most. I passed over, very easily, the three old editions, (the 9th, the 10th and the 11th) of "Encyclopaedia Britanica." The revised edition of Chamber's "Encyclopaedia" and "The New Popular Encyclopaedia" detained me a little more. I was delighted to see "The Works of William Shakespeare" in twelve volumes, printed directly from the Whitehall edition It is needless to pointout that this edition, which is now rare, had once attracted the elite most. In the same discensive vein I fell upon a book "The Song of Songs" by Ernest Revan. This is a fine piece of criticism on one of the oft-read and oft criticised books of the Bible. As a student of literature I was, quite naturally, drawn to it and my present article is based on the light I got from this valuable book.

'The Song of Songs', otherwise known as 'The Song of Solomon' is one of the most poetical books of the Bible. It consists of eight chapters and one hundred and seventeen verses. As far as the language of the book is concerned, it presents the fewest difficulties. But of all the literary monuments of the Jewish people, it is doubtedlessly the one "whose plan, nature, and the general sense are the most obscure." The theologians and Churchmen advance thousand and one mystical interpretations of the book and try to findout a sustained allegory in it. But the critics like Revan, Theodore de Mopsuestus, Sebastian Castalion, Grotius and Team Leclerc, maintain that the "Song of Songs" is a profane work and that it is quite

different from other religious books of the Bible. In my humble opinion the latter group of critics is more justified than the first.

A few extracts from the book will give a clear idea of its earthly nature. The book begins with the expression of an intense desire of a lady. "Let him kiss me with the kisses of his mouth; for thy love is better than wine." Here the captive woman is sighing for her absent lover. This expression of love is wholly and completely sensual. Revan rightly points out, "The comparision of love to wine is objectionable." The young woman, the heroine of the poem, who has just been shut up in the harem of King Soloman, for she is not being persuaded by "the daughters of Jerusalem" to accept King Soloman as her lover, is remembering her Shepherd and she is mad after him. She says, "I charge thee, O ye daughters of Jerusalem, by the roes, and by the hinds of the field, that ye stir not up, nor awake my love, till he please.... ...... My beloved is like a roe or a young hart ... .My beloved is mine, and I am his: he feedeth among the lilies ....By night on my hed I sought him whom my soul loveth: I sought him, but I found him not. ... . Behold, thou art fair, my love: behold, thou art fair; thou hast dove's eyes........ .. Thy lips are like a thread of scarlet, and thy speech is comely .. .. Let my beloved come into his garden, and eat his pleasant fruits ....My beloved is white and ruddy, the chiefest among ten thousand. His eyes are as the eyes of loves. His cheeks are as a bed of spices, as sweet flowers: his lips like lilies .. .. His mouth is most sweet: yes, he is altogether lovely ... . I am my beloved's, and my beloved is mine ... ... come, my beloved, let us go forth into the field ... . Make haste, my beloved, and he thou like to a roe or to young hart upon the mountains of spices."

These few verses from all the eight chapters of 'The Song of Songs' are enough testimony to the fact that they are addressed by a woman to her lover. The Shulamite, the heroine of the poem, cherishes a tender love for her shepherd lover. She has been brought to the Harem of King Solomon by force. She is now being compelled to love the King. The 'daughters of Jerusalem come to persuade her. They try to tempt the innocent, simple minded rustic girl but she refuses them all and harpes on her own tune.

She pays no attention either to the request or the threats of the King and she remains true to her lover till the end. At last her virtue wines and the King permits her to be united with her lover who comes and takes her away to his cottage home.

Now, the Hindoos and the Persians discover a kind of mysticism in these lines. Mr. George Foot Moore traces the history of allegorical interpretation of the Poem. He says, "In the first century it was .. ..no Holy Scripture for the straitest sect, and was not finally admitted to the canon until an allegorical sense had been discovered in it, or rather imposed on it: it sang under the figure of wedded love, of the relation of the Lord to Israel The Fathers took over all the allegory, only making the lover Christ, the beloved the Church or the Soul."[1] And again Revan points to the similar developement of the interpretation of the Poem "There can be no doubt that, in its interpretation, the 'Song of Songs' was not a profane book. ....One solitary argument may be invoked to uphold the possibility of a religious 'arriere-pensee' in the 'Song of Songs'; to wit, the mystical-erotic Poetry of India and Persia."[2]

Yes, there was a time in the history of thought when people gave an allegorical and mystical interpretation of the poem. But the days are now gone. Critics today take the poem on its surface value without any preconceptions. They acclaim unanimously that the Poem is an erotic one—singing the triumph of love of a true woman over the best of a wistful King. Harvey gives a short note on the Poem: "The allegorical interpretation of the Poem is now generally abandoned, and it is regarded as a love drama, in which three characters are represented, the woman, the lover and the King"[1] Similarly George Foot Moore is very clear on the point. Dealing with the theme of the poem he says, "The one theme of the book, running through many variations is the love of man and woman, passionate and senseous."[2] And Mr. William M. Thomson says, "It is a profane work and possesses no mystical meaning what ever. It is, in fact, an erotic poem and its language is to be accepted literally. It deals wholly and exclusively with that passion which we are accustomed to denominate love; or, we might say, love versus lust."[1] Mr. Revan concludes, "We regard it, then, as cer-

tain that the author of the 'Song of Songs", in writing the poem, had no mystical intention .. .. ..'The Song of Songs' is a profane book.'"[2]

Thus we see that the poem is now interpreted in a correct way. It is accepted on all hands that the 'Song of Songs' is a love poem, which deals with earthly and mundane love of a woman for a man. The use of sensual images, the erotic language and the general tone of the poem go to prove that the poem is wholly and solely an erotic one.

I am really indebted to the Central Jain Oriental Library, Arrah which provided me with one of the fine opportunities to throw some light on this must obscure book. In absence of the help from the library it would have been impossible for me to do the work. Thanks are due to the Library and its patrons who have made it a valuable store house of knowledge

1. George Foot Moore :—Literature of the old Testament Page 247.
2. Ernest Revan :—The Song of Songs Page 84.

SIXTY YEARS OF JAIN SIDDHANTA BHAWAN.

Subodh Kumar Jain.

Year 1903.

An eminent scholar of Sanskrit and Jain Shastra Shri Bhattarak Shri Harsh Kirtijee Maharaj arrived at Arrah with several chests full of ancient literature after his piligrimage to Sri Parasnath Hills.

Babu Devkumar Jee showed him the book-depository of his grand father, Pandit Babu Prabhu Das Jee, and it was decided to start a Library at Arrah. Accordingly in the presence of Jain fellowmen the foundation of the Jain Dharma Library (Jain Siddhanta Bhawan)was laid in the premises of the temple of Lord Sri Shantinath by the pious hands of Shriman Bhattarak Sri Harshkirti jee. Besides the donation by Babu Devkumar of his Shastra Bhandar, other persons of Jain community also donated some books to the Library.

Year 1905.

Speaking from the presidential chair of the first session of Arrah Nagri Pracharini Sabha Babu Devkumar Jee emphatically stressed the need of establishing libraries at different places.

A generous donor as he was, Babu Devkumar Jee made a pilgrimage to the historic and religious places of South India. He delivered speeches and religious discourses at different places. He established schools and started Jain Associations.

He built one hostel in Manglore and opened seven libraries. He made necessary arrangement for the safe custody of valuable books which were rotting. In this work he got the help of Sri Nem Sagar Jee Varni He generously used to give monetary help where ever needed. For the sake of maintaining a list of religious books Babu Devkumar Jee got a notice published which was as follows—"I want to prepare a list of Jain Shastras of India. It would be an act of great kindness if fellow brothers of all such places where there are libraries of Jain Shastras, fill in the prescribed forms and send it to me"

April 1907.

Babu Devkumar Jee went to Bombay. There he conducted meetings for two days. The first meeting was held under

the presidentship of Sir Seth Hukum Chand Jee in which it was decided to establish a Sarsawati Bhawan at Bombay. Speaking from the presidential chair of Kundalpur session of Digambar Jain Mahasabha Babu Devkumar Jee delivered a very eloquent speech for the protection of Jain Shastras. In those very days in the editorial columns of the Jain Gazzette he wrote inspiring articles on this topic.

4th June 1908.

Babu Devkumar Jee executed a trust deed and accordingly he endowed a sum of rupees two thousand and a Zamindari property with an annual income of Rs. one thousand five hundred for Sri Jain Siddhanta Bhawan.

5th August 1908.

On this day Babu Devkumar Jee expired at a very early age of 32 years. Before his death he left the following message—

To all our Indian brethren and specially to the brethren of the Jain Samaj my last appeal is that they should do their utmost for production and preservation of ancient scriptures, temples and relics. I had embarked upon the fulfilment of this mission but suddenly I find that my days in this world are numbered. Now, you are the pillars of this glorious Jain religion and you must do all for its protection.

December 1908.

According to the trust deed of late Babu Devkumar, the trustees appointed by him took charge of the trust property. Sri Nemi Sagar Jee Varni became its first president and Karori Chand Jee its first Secretary.

1909.

Sri Nemi Sagar Jee took upon the preparation of the index of Shastra Bhandar at Moodbidri and Humach in the South and prepared manuscript copies of six important Shastras.

1910.

Sri Karori Chand Jee made an impassioned speech for the protection of ancient Shastras in the open session of Digambar Jain Mahasabha and collected a sum of Rs. four thousand for the purpose.

He also went to Srawan Belgola and did extensive work for the establishment of a library at that place. He also prepared and

procured index of ancient scriptures at Mysore State Library, Banglore, Manglore. Karkal, Poona, Bombay and other places, Thus practically lists of all Shastra Bhandaras at Karnatak and Mysore were collected.

1911.

Further indexing was done of the Shastras available in other Southern States. In Central India Bhattarak Sri Vir Senjee prepared and sent a list of ancient scriptures lying in that area. Bhattarak of Kolhapur Sri Laxmi Sen Jee sent a list of his Shastra Bhandara. Bhattark of Delhi Sri Munindra Kirti Jee sent a Pattawali of Kastha-Sangh.

June 1911.

For the first time after the death of Babu Devkumar Jee an All India Conference was held at Arrah and a united effort was made under the presidentship of Seth Padmaraj Ji Raniwala of Calcutta for organising the working of Devkumar Jain Oriental Research Institute and Jain Siddhanta Bhawan on a sound footing. A number of persons including Kumar Devendra Pd. Jee were honoured and honorary titles were conferred upon them for their contribution and help to the library.

1912.

The first annual report of this library was published and Sri Jain Sidhant Bhaskar, the quarterly research magazine of the library was published for the first time

1913

Deputation from library was sent to Amrawati and a couple of important Shastra Bhandaras that were lying locked up for the last 40 years were got opened after great efforts. Subsequently the deputation moved on to Muktagiri and other places only for the purpose of preparing a list of books lying in the Shastra Bhandaras.

Babu Bachhu Lal Jee of Arrah endowed in favour of the library a valuable piece of land for the construction of the library-building.

1915.

At the annual session of the Syadvad Vidyalaya Kasi an exhibition of the valuable items in the library were displayed. Doctor Herman Jacobi a great scholar while unveiling the portrait of Babu

Devkumar observed—It is a privilege to unveil the portrait of such an illustrious and religious minded person. I wish many would follow his steps and dedicate themselves as he did for the propagation of religion.

During the fourth session of the Hindi Sahitya Sammelan at Bhagalpur another exhibition was organised with great success.

Syed Md. Abdul Gani a renowned artist of the Court of Wazidali Shah the last Nawab of Awadh completed nine valuable paintings including one of Babu Devkumar Jee after four years of continuous work.

1916.

Babu Devkumar Jee had established during his life time a wing on Jain archaeology at the library. This section took up the repairs of the ancient temple of Seth Sudarsan at Patna City and also of the temples at Khand-giri and Udayagiri in Orissa. Donations were sent for the renovation of temples at Fatuha and Pawagarh. Valuable additions were made in the collection of old coins, paintings and ancient scriptures.

1917.

The second annual report of the library was published by the then Secretary Babu Suparswa Das Gupta.

An exhibition was organised by the library at Calcutta which was attended amongst others by Sir Ashutosh Mukerjee, Awanindra Nath Tagore and Sir John Woodruf.

1918.

Sri Nirmal Kumar Jain, the eldest son of Babu Devkumar Jee was taken in the library committee.

1919

A deputation was sent to Nagore to enquire about the Shastra Bhandar at that place.

1922

An index was prepared of all the old manuscripts in the library.

1923

Babu Nirmal Kumar Jain was elected Secretary of the library and under his leadership the committee embarked upon the ambitious

programme of constructing the library building.

1924

Construction of building was started in right earnest

1925

The palatial building of the library was finally completed.

1926

Mahamana Pandit Madan Mohan Malviya visited the library and expressed great pleasure and appreciation for the work so far done by the management

1927

Mahatma Gandhi visited the library He wrote in the visitor-book —I was delighted to look at the cleanliness, the peaceful atmosphere and the valuable collections of the library I have in my heart respect for the Founder of the institution

1928

An ancient manuscript Munisubrat Kavya—was sent to press and editing of this valuable manuscript was taken up

1929

The first publication under the auspices of Devkumar Publications with translation in Sanskrit—Sri Munisubrat Kavyam written-by Arahatdas was published

1933

The second publication of Devkumar Publications, Gyan Pradipika was published translated and edited by Pandit Ram Vyas Pandey

1934

About 450 printed books were collected and handwritten copies were prepared of nine valuable ancient Sanskrit and Prakirt scriptures

1935.

After 24 years the library's quarterly magazine Sri Jain Sidhanta Bhaskar and the Jain Antiquary started their publication

1936

About four thousand persons visited the library this year 151 new books were collected out of which 5 were very valuable.

The library celebrated its Annual function this year in its new decorated hall.

1937.

More than five thousand persons came to the library including a dozen very important persons.

1938.

Four valuable scriptures written on palm leaves and one hundred fifty printed books were collected.

1939.

Another new publication saw the light of the dav. This time it was Tiloyapannati, edited by Dr. A. N Upadhye. Jain Literature in Tamil a book written by Prof. A. Chakravarti was another important publication of the year.

1941.

About 400 books in Sanskrit, Hindi, Marathi and Telgu were added to the library this year and about 8000 persons visited the library.

1942.

Sir Mirza Ismail came to visit the library and 15 other scholars utilised valuable books of the library for study and research. A large number of books were given to the Arrah Jain College to help the establishment of its library.

1943.

Prasasti-Sangrah edited by Pandit K. Bhujbali Shastri and another important book, Vaidyasar, edited by Ayurvedacharya Pandit Salyadhar were published. Dr. Amarnath Jha visited the library.

1944.

Valuable books were sent to 22 scholars of India for their study and research Three valuable manuscripts were procured this year.

1945.

After 22 yrs. of valuable service to the library Badu Nirmal Kumar Jain took leave of the secretaryship due to bad health. His younger brother Babu Chakreshwar Kumar Jain was elected as the new secretary. Sri Subodh Kumar, son of Babu Nirmal Kumar was elected as Treasurer and Pandit Nemichand Shastri became the new Asstt. secretary and the librarian.

1946

6745 persons visited the library. Noted Hindi writer Kaka Kalelkar, Pandit Nalin Vilochan Sharma and Bihar's Education Minister were the important visitors Books were lent to a German scholar and to Professors of Allahabad and Madras Universities for research work. Thorough renovation of the library building was done.

1948.

A 15 day Literary, and Cultural meeting was organised with great success

1949.

The noted Jain Scholar and saint Acharya Deshbhusan Maharaj spent four months going through the valuable large collections of Jain literature written on palm leaves out of which two books were translated and edited by him. One was Ratnakar Shatak and the other Dharmamrit.

1951

A special issue of Sri Jain Siddhant Bhaskar & The Jain Antiquary, was published this year in Commemoration of its founder Sri Babu Devkumar Good wishes were received from prominent persons of the country.

1952.

It was announced that late Babu Bachhu Lal Jee Jain had endowed all his assets and property valued at Rupee one lakh and a portion of it was in favour of the library.

1953.

The managing committee of the library was reconstituted with Sri Chakreshwar Kumar Jain as its president. Babu Suparswa Das was re-elected as its secretary after thirty years. The activities of the library came to a stand still suddenly due to the Bihar Land Reforms having come in force. The library's Zamindari property was taken over by the Bihar Govt.

1960

Managing Committee decided to celebrate Golden Jubilee of the library and to approach the Govt. of Bihar for recognising and giving financial aid to Devkumar Jain Oriental Research Institute.

Saran Singh Dy Finance Minister Govt of Bihar also attended the meeting.

1962.

Due to the untimely death of Dr. Sri Krishna Singh. Chief Minister of Bihar all efforts so far made to celebrate the Golden Jubilee and for the recognition of research institute received a serious set back. Sri Ambika Sharan Singh the Dy Finance Minister advised that both these be postponed till the politics of the state settled down.

1963.

Due to the sudden and untimely death of the president of the library, Babu Chakreshwar Kumar jee the library's managing committee was re organised with Babu Chhote Lal Jee of Calcutta as its new president. Sri Subodh Kumar Jain was elected secretary.

At a meeting under the presidentship of the Vice president of the library Sri Devendra Kishore Jain it was unanimously resolved that the Jubilee celebration be organised by December 1963.

An official seal of the library was designed and finalised by Sri Mahabir Pd, Director of Ishwari Pd. Chitrakala Academy Arrah and the same was adopted and accepted by the Managing Committee The official motto was also adopted reading as follows—"णाणं दव्वपयासं" ।

It was resolved that about a dozen noted scholars of India who had worked all their life on Jain literature be conferred the title of 'Siddhantacharya' and be honoured at the Jubilee function.

ist of the members of the present Managing Committee of Sri Jain Siddhanta Bhawan Arrah (Bihar)

iirman —Sri Babu Chhote Lal Ji Jain. M. R. A. S., Calcutta.

'e Chairman —Sri Babu Devendra Kishore Ji Jain, Arrah.

retary —Sri Babu Subodh Kumar Ji Jain, Devashram, Arrah.

t. Secretary —Dr. Nemi Chandra Shastri, M. A., Ph. D. Arrah.

ir—Pro

mbers —Prin

Rai Sa

Arra

Pro

Ba

Pt.

Ba